सहजानंद शास्त्रमाला

ज्ञानार्णव प्रवचन

चतुर्दश भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक **'ज्ञानार्णव प्रवचन चतुर्दशं भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल http://is.gd/varniji पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री **सुरेशजी पांड्या**, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 2000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **कु. प्रतीक्षा जैन, गांधीनगर, इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा
53, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9753414796
Email-vikasnd@gmail.com
www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन#

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।

जिन शिव ईश्वर ब्रहमा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय 2
आत्मकीर्तन....3
आत्म रमण 4
श्लोक-1140....11
श्लोक-1141....13
श्लोक-1142....13
श्लोक-1143....14
श्लोक-1144....16
श्लोक-1145....17
श्लोक-1146....18
श्लोक-1147....20
श्लोक-1148....21
श्लोक-1149....22
श्लोक-1150....22
श्लोक-1151....23
श्लोक-1152....24
श्लोक-1153....25
श्लोक-1154....25
श्लोक-1155....26
श्लोक-1156....27
श्लोक-1157....28
श्लोक-1158....28
श्लोक-1159....29
श्लोक-1160....29
श्लोक-1161....30
श्लोक-1162....31

श्लोक-1163..32
श्लोक-1164..33
श्लोक-1165..34
श्लोक-1166..36
श्लोक-1167..38
श्लोक-1168..39
श्लोक-1169..42
श्लोक-1170..43
श्लोक-1171..44
श्लोक-1172..45
श्लोक-1173..45
श्लोक-1174..46
श्लोक-1175..47
श्लोक-1176..48
श्लोक-1177..49
श्लोक-1178..51
श्लोक-1179..52
श्लोक-1180..52
श्लोक-1181..54
श्लोक-1182..55
श्लोक-1183..56
श्लोक-1184..56
श्लोक-1185..57
श्लोक-1186..58
श्लोक-1187..60
श्लोक-1188..60
श्लोक-1189..61

श्लोक-1190....62
श्लोक-1191....62
श्लोक-1192....65
श्लोक-1193....66
श्लोक-1194....66
श्लोक-1195....67
श्लोक-1196....68
श्लोक-1197....69
श्लोक-1198....70
श्लोक-1199....71
श्लोक-1200....71
श्लोक-1201....72
श्लोक-1202....75
श्लोक-1203....77
श्लोक-1204....77
श्लोक-1205....78
श्लोक-1206....79
श्लोक-1207....82
श्लोक-1208....83
श्लोक-1209....83
श्लोक-1210....84
श्लोक-1211....85
श्लोक-1212....86
श्लोक-1213....87
श्लोक-1214....87
श्लोक-1215....88
श्लोक-1216....91

श्लोक-1217..92
श्लोक-1218..93
श्लोक-1219..94
श्लोक-1220..95
श्लोक-1221..96
श्लोक-1222..97
श्लोक-1223..99
श्लोक-1224..100
श्लोक-1225..101
श्लोक-1226..102
श्लोक-1227..103
श्लोक-1228..103
श्लोक-1229..105
श्लोक-1230..105
श्लोक-1231..106
श्लोक-1232..107
श्लोक-1233..107
श्लोक-1234..108
श्लोक-1235..108
श्लोक-1236..110
श्लोक-1237..110
श्लोक-1238..111
श्लोक-1239..112
श्लोक-1240..113
श्लोक-1241..113
श्लोक-1242..114
श्लोक-1243..115

श्लोक-1244....117
श्लोक-1245....119
श्लोक-1246....120
श्लोक-1247....121
श्लोक-1248....121
श्लोक-1249....122
श्लोक-1250....122
श्लोक-1251....123
श्लोक-1252....124
श्लोक-1253....124
श्लोक-1254....125
श्लोक-1255....126
श्लोक-1256....126
श्लोक-1257....127
श्लोक-1258....127
श्लोक-1259....128
श्लोक-1260....129
श्लोक-1261....130
श्लोक-1262....130
श्लोक-1263....133
श्लोक-1264,1265....133
श्लोक-1266....135
श्लोक-1267,1268,1269....136
श्लोक-1270,1271....138
श्लोक-1272,1273....140
श्लोक-1274....141
श्लोक-1275....142

श्लोक-1276....144
श्लोक-1277....146
श्लोक-1278....146
श्लोक-1279....146
श्लोक-1280....147
श्लोक-1281....147
श्लोक-1282,1283,1284,1285,1286,1287,1288....148
श्लोक-1289....151
श्लोक-1290....152
श्लोक-1291....152
श्लोक-1292....153
श्लोक-1293....154

ज्ञानार्णव प्रवचन चतुर्दश भाग

श्लोक-1140

मोहवन्हिमपाकर्तुं स्वीकर्तुं संयमश्रियम्।
छेत्तुं रागद्रुमोद्यानं समत्वमवलम्बयताम्।।1140।।

हे आत्मन् ! मोहरूपी अग्नि को बुझाने के लिए और संयमरूपी श्री को स्वीकार करने के लिए तथा रागरूपी फूलों के बाग का छेदन करने के लिए समतापरिणाम का आलम्बन कर। इस श्लोक में तीन प्रयोजन बताये गए हैं— मोह की आग को शान्त करना और संयम की श्री को स्वीकार करना और राग वृक्ष के बगीचे को काट देना। इन तीन प्रयोजनों के लिए समतापरिणाम का आलम्बन लें और जहाँ रागद्वेष की मध्यस्थता हो जाती है तो इनमें से किसी का पक्ष नहीं रहता है। अपने को नि:संग अनुभव करना है। उस स्थिति में मोह नहीं है और सच्चा संयमन जगा है, और रागादिक का पता ही नहीं है, इन तीन प्रयोजनों में जो इनका क्रम रखा है उसमें भी मर्म है। पहिले मोह को दूर करने की बात कहीं, फिर संयम के पालन की बात कही, फिर राग को निर्मूल करने की बात कही। इसका यह क्रम है और पूर्व-पूर्व कारण है और अगला-अगला कार्य है। मोह दूर किए बिना शान्ति के मार्ग पर चलने का कोई उपाय ही नहीं रहता। सर्वप्रथम मोह दूर करना है। यह मोह दूर होता है तत्त्वज्ञान से। जब ज्ञान से हम निरखते हैं यह दरी है, यह चौकी है, फिर कोई बहका सकता क्या कि यह चौकी नहीं है? घड़ियाल है, यह दरी नहीं हे किन्तु संगमरमर है। कोई यों बहका देगा क्या? ज्ञान में आ गया, आ गयी चीज। तो बस ऐसे ही ज्ञान में आने भर की ही बात है, मोह दूर हो गया। ज्ञान में आ जाय कि मेरा वह ज्ञानस्वरूप इस शरीर से भी न्यारा, अन्य सब बवण्डरों से भी दूर केवल वह ज्ञानस्वभाव है वह मैं हूँ। शेष सब मैं नहीं हूँ। इस प्रकार के ज्ञानभर की बात है। आ जाय ज्ञान ऐसा तो फिर इसे कोई बहका तो न सकेगा। क्या कि आत्मा नहीं है यह बाहरी पदार्थ मात्र है अथवा यह भी माया ही है, इन्द्रजाल कि इसका आधार कुछ नहीं है और ये हो गए हैं ऐसे विस्तार में। हे आत्मतत्त्व, उसका हो गया परिचय, फिर बहकायेगा कौन? फिर श्रम नहीं आता।

जब श्रम न आया, यथार्थ ज्ञान बना तो मोह तो दूर हो ही गया, चाहे राग कितना ही रहे, न छोड सके, न रह सके राग बिल्कुल, लेकिन मोह नहीं है। मोह का सम्बन्ध अज्ञान से है। अज्ञान मिटे जड़ से वहाँ

मोह नहीं ठहर सकता। देख लीजिए कितना सस्ता काम है? जैसे आँखें खोली और सब चीजें नजर आयी। जो आया नजर उसे वही मान लिया। ऐसा कर ही रहे हैं। इसमें क्या जोर पड़ा? यह तो एक सहज काम सा है। काम भी क्‍या है? होता ही हे ऐसा। तो ऐसे ही मैं क्या कहूँ, ये सब क्या हैं, सही परिचय हो जाय, बस मोह समाप्त हुआ। तो सर्वप्रथम प्रगतिपथ में चलने के लिए मोह को दूर करने की बात चलती है। किसी भी पीड़ा को मेटने के लिए बाह्यविषयों के संचय का श्रम किया जाता है। बजाय इसके यदि अपने आपमें इस भावना को दृढ़ बना लें तो यह रागभाव दूर हो जाय, बस यही मेरी कमाई है। इसी को ही करना है। ऐसा अपने में कार्य-क्रम बने और उसके लिए ही उद्यमी रहें तो यह उपाय शान्ति का है। तत्त्वज्ञान की महिमा है। काम तो सब होते ही हैं, हो ही रहे हैं। कहीं हमारी कल्पना से, हमारी चिन्ता से, शोक से, आसक्ति से कोई बाह्य में कार्य बना क्या? नियम तो नहीं बन जाता कुछ। वह काकतालीय न्याय है। जैसे किसी ताड़ के बड़े वृक्ष के नीचे से कोई कौवा उड़कर जा रहा था। उसी समय उस ताड़ से कोई फल गिरा तो लोग कहते कि इस फल को उस कौवा ने गिराया या नीचे कौवा उड़ रहा था और कुछ ऐसा बानक बन गया कि वह गिरने वाला फल कौवा की चोंच में आ गया तो यह बात हर समय तो न बन जायगी।

किसी अंधे को कहीं चलते हुए रास्ते में किसी पत्थर से ठोकर लग जाय और वह उसे खोद दे, उसमें उसे अशर्फियों का हंडा मिल जाय तो क्या यह नियम बन गया कि सभी अंधों को यों धन मिल जाय? कोई सोचे कि आँखों में पट्टी बांधकर अंधे बनकर चलें, किसी जगह पैर की ठोकर मारकर खोदें और अशर्फियों का हंडा मिल ही जाय सो तो बात नहीं है। यदि काकतालीय न्याय से ऐसा कदाचित हो जाय कि जो चाहता हो वही काम बने। जैसा जिसको परिणमना चाहिए वैसा ही बन जाय तो वह सब काकतालीय न्याय से हो गया पर उसका नियम कुछ नहीं। मोह में सोचते हैं ऐसा कि हमारे तो ऐसी सामर्थ्य है कि हम जो चाहते हैं तब वही बन जाता है लेकिन जब परखने बैठेंगे तो जैसे इच्छायें एक लाख की हुई दिन भर में, एक लाख इच्छायें तो हो ही जाती हैं, हम उसका अनुभव नहीं कर पाते, पर भीतर में सूक्ष्म निर्णय से देखें तो लाख इच्छायें हो ही जाती हैं। ऐसी छोटी-छोटी इच्छायें हैं जिन्हें हम ग्रहण भी नहीं कर पाते। हो गयी इच्छायें, पर उन इच्छावों से चारों कषायों की इच्छा फलीभूत होती है। तो वह बन गया बानक। अथवा यों समझिये कि जिसके करोड़ों की सम्पदा हे वह कहीं से हजार रुपये चाहे तो उसे कौनसी निधि मिल गई, कौनसा बड़ा काम हो गया। ऐसे ही यह आत्मविशुद्धि के पथ में बढ़ रहा था और उसके साथ पुण्य रस बहुत बढ़ा था उस स्थिति में बहुत छोटी सी बात चाह ली और हो भी गयी तो कौनसी बड़ी बात है?मोह करना व्यर्थ है। हमारे किये यहाँ कुछ होता नहीं। मोह को त्यागें, पदार्थ का यथार्थ विज्ञान बनावें। सबसे पहिले तो यह जरूरी है इसकी साधना होती है, फिर ऐसी स्थिति होती है कि वह संयम का आश्रय करें। उस संयम के ही प्रसाद से तीसरी बात बनेगी, रागभाव का निर्मूल कर देना। मोह दूर होने का उपाय तो है तत्त्वज्ञान और रागादिक विकारों के दूर करने का उपाय है संयम। सो मोह दूर करने के लिए संयमश्री पाने के लिए और

रागादिक विकारों का बग़ीचा छेद काटकर ध्वस्त कर देने के लिए समता परिणाम का आलम्बन करना चाहिए। तो यथार्थस्वरूप समझकर रागद्वेष को मिटायें और अपनी ओर आयें, यही है सच्ची आत्मदया। इसके प्रसाद से ही मुक्ति का लाभ है।

श्लोक-1141

चिदचिल्लक्षणैर्भावैरिष्टानिष्टतया स्थितै।
न मुह्यति मनोयस्य तस्य साम्ये स्थितिर्भवेत्।।1141।।

जिस प्राणी का मन चेतन और अचेतन पदार्थों के द्वारा मोह को प्राप्त नहीं होता उस पुरुष की ही साम्यभाव में स्थिति होती है। समस्त चेतन अथवा अचेतन पदार्थ मेरे स्वरूप से अत्यन्त भिन्न हैं, उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उनमें है, मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मुझमें है। मेरा मेरे सिवाय अन्य पदार्थों से मेरा कुछ भी सम्बंध नहीं है। न कर्तव्य है और न भोक्तृव्य है, न कोई मेरा अधिकारी है, न में किसी का स्वामी हूँ, ऐसा जिनके स्पष्ट निर्णय है वे पुरुष अन्य पदार्थों में मोह को प्राप्त नहीं होते। राग अथवा द्वेष उनके चित्त में नहीं आता, अतएव उनके समतापरिणाम प्रकट होता है। जहाँ समता हो वहाँ ही आत्मध्यान है, आत्मस्पर्श है। जहाँ रागद्वेष अथवा किसी पदार्थ में इष्ट अनिष्ट बुद्धि हो वहाँ ही इस जीव का संसार है। समता का घात करने वाला मूल में तो मोहभाव है। जहाँ शरीर में आत्मबुद्धि हुई, यह मैं आत्मा हूँ ऐसा शरीर में पर्याय का लगाव हुआ कि वहाँ सर्वप्रथम तो एक नामवरी की चाह उत्पन्न होती है। पोजीशन का परिणाम जगा फिर वहाँ इस पूर्ति के लिए सर्व कुछ इसे करना पड़ता है। नीति अनीति कुछ भी इसके लिए शेष नहीं रहते। तो इस मोह के आधार पर रागद्वेष का परिणाम होता, और रागद्वेष होने पर समता नहीं ठहर सकती। जिन पुरुषों को साम्यभाव चाहिए उनको यथार्थ ज्ञान समक्ष रहना चाहिए।

श्लोक-1142

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
समत्वं भज सर्वज्ञज्ञानलक्ष्मीकुलास्पदम्।।1142।।

हे आत्मन् ! तू काम और भोग आदिक में विरक्त हो, शरीर में आसक्तता छोड़कर समता का सेवन कर। जब तक काम और भोगों में राग है तब तक समता नहीं होती। काम का अर्थ है स्पर्शन और रसना इन्द्रिय का विषय और भोग का अर्थ है घ्राणइन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय और कर्णइन्द्रिय का विषय। जब तक पंचेन्द्रिय के विषयों से विरक्ति नहीं उत्पन्न होती तब तक यह जीव समता का पात्र नहीं बनता। सो काम भोगों में विराग करके शरीर की अशक्तता को छोड़ें और समता का सेवन करें। यह समता सर्वज्ञ के ज्ञान लक्ष्मी के कुल का स्थान है अर्थात् समतापरिणाम हो तो उसके केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त होती है। जीवस्वरूप स्वभाव से शान्त है, इसको कहीं भी आकुलता नहीं है, लेकिन जब स्वभाव को ही भूल जाय तो विभाव में, परभाव में, अन्य पदार्थों में इसकी आसक्ति बनेगी। और जहाँ परभावों में आसक्ति हुई कि फिर वहाँ ज्ञान का विकास रुक जाता है। ज्ञान का शुद्ध स्वाभाविक विकास हो तो वहाँ आकुलता ठहर नहीं सकती। आकुलता भी और क्या चीज है? एक ज्ञान की किस्म है। ज्ञान किस रूप परिणमता है उस ही आधार पर सुख दु:ख आनन्द सबकी सृष्टि है। तब ज्ञान ही सम्यक्त्व है, ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, ज्ञान ही सम्यक् चारित्र है अर्थात् जब जीवादिक के श्रद्धान के स्वभाव से यह ज्ञान अपनी परिणति बनाता है तो वह सम्यक्त्व है और जब पदार्थों के ज्ञानरूप से वृत्ति बनाता है तो वह सम्यग्ज्ञान है अर्थात् जब रागादिक का त्याग करते हुए ज्ञान अपनी वृत्ति बनाता है तो वह सम्यक्चारित्र है। जब सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये सब ज्ञान ही हुए तो मिथ्यादर्शन, मिथ्याचारित्र ये भी तो ज्ञान के ही परिणमन हुए। जिस अभेददृष्टि से हम सब कुछ ज्ञान को मान सकते हैं तो उस ही अभेद दृष्टि से हम सब कुछ आकुलतावों को ज्ञान के ही विपरिणमन मान सकते हैं तो सुख क्या, दु:ख क्या, आनन्द क्या? ये सब ज्ञान के परिणमन हैं। तो अपने आपको केवल ज्ञाता द्रष्टा रखने का यत्न करें। ये रागद्वेष स्वयं दूर होंगे और अपनी जो कैवल्य ज्ञान, कैवल्य लक्ष्मी है उसको तू प्राप्त कर लेगा।

श्लोक-1143

छित्वा प्रशमशस्त्रेण भवव्यसनवागुराम्।
मुक्ते: स्वयंवरागारं वीरं व्रज शनै: शनै:।।1143।।

हे आत्मन् ! हे वीर ! तू शान्तस्वभावी शस्त्र से सांसारिक कष्टरूपी शत्रु को छेदन कर और मुक्तिरूपी लक्ष्मी का वरण कर। शान्त होने से फिर मार्ग का रोकने वाला कोई नहीं है। मार्ग क्या? जिस वृत्ति से आत्मा शान्ति को प्राप्त हो, आनन्द को प्राप्त हो वही मार्ग है। उस मार्ग में गमन उसका निर्वाध होगा जो

प्रशम का रुचिया होगा। समस्त कल्पनाएँ, समस्त बाधायें शमन होकर एक आत्मीय सत्य प्रसन्नता प्रकट हो तो वहाँ इसके सांसारिक कष्ट दूर हों और निराकुलता प्राप्त हो। फिर इसको शिव के मार्ग से रोकने वाला कोई नहीं है। कभी भी कुछ भी कोई संकट आये उन सर्व संकटों को नष्ट करने का उपाय केवल अपने आपके एकत्व स्वभाव में दृष्टि बना लेना है। सारे संकट एक साथ समाप्त हो जायेंगे। और उसी में फिर प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य प्रकट हो जायेंगे। किसी ने पहिले अपराध किया हो तो ऐसे अपराधी पुरुष पर क्रोध न करना उसे क्षमा कर देना सो प्रशमभाव है। तत्त्वज्ञानी के ऐसा विचार रहता है कि कोई पुरुष मेरा अपराध नहीं करता। जो कोई कर सकता है वह खुद अपना अपराध कर सकता है। तब मेरा अपराध करने वाला जगत में है कोई नहीं। सबके अपनी-अपनी कषायें हैं, उन कषायों के अनुसार सबकी

अपनी-अपनी चेष्टायें हैं, मेरा अपराध करने वाला लोक में कोई नहीं है अतएव किस पर क्रोध करना? ऐसा ज्ञान जगने से इस तत्त्वज्ञानी पुरुष के प्रशम भाव उत्पन्न होता है। सम्वेग भाव दो भागों में विरक्त है एक तो संसार से वैराग्य और दूसरे धर्म में अनुराग। ये दोनों बातें परस्पर अविनाभावी हैं। जिसे संसार में वैराग्य है उसे धर्म में अनुराग है, जिसको धर्म में अनुराग है उसको संसार में वैराग्य है। इसी कारण सम्वेग में दो श्रेणियाँ हैं। तत्त्वज्ञानी पुरुष के संसार से वैराग्य सहज बना करता है, और संसार में जब किसी भी पदार्थ में इसका उपयोग न टिका तो उपयोग फिर अपने आप रूप रह गया। अपने आपसे फिर अनुराग जगे, प्रीति जगे, यही हो गया धर्मानुराग। तो सम्वेग की दो श्रेणियाँ हैं—संसार से वैराग्य और धर्म में अनुराग। इस सम्वेग भाव को करके अपने आपको यह तत्त्वज्ञानी पुरुष कैवल्य स्थिति के निकट ले जाता है। तीसरा गुण प्रकट होता है ज्ञानी के अनुकम्पा। अनुकम्पा की भी दो श्रेणियाँ हैं— परभावों पर अनुकम्पा करना और स्वयं पर अनुकम्पा होना। स्वयं पर अनुकम्पा तो यह है कि यह तत्त्वज्ञानी अपने आपको दु:खी और उद्विघ्न देख रहा है। इस संसार में यह प्राणी रागद्वेष के वशीभूत होकर अपने आपके प्रभु पर अन्याय करता चला जा रहा है, दु:खी हो रहा है।

दुखियों पर दया तो ज्ञानियों को आती ही है। यह स्वयं दु:खी हे और अपने आप पर दया नहीं कर रहा है। बड़ी विपदा है यह। इसकी यह विपदा एक सम्यग्ज्ञान से ही मिट सकती है। देखो यह ज्ञान सम्यग्ज्ञान का आदर करके अपने आप पर अनुकम्पा जगा रहा है। यह तो हुई अपने आप पर अनुकम्पा। और जिसको स्व पर अनुकम्पा होती है उसको पर में भी अनुकम्पा होती है। संसार के अनेक प्राणी दु:खी हैं। बाह्य पदार्थों में अपने सम्मान अपमान की बात निरखकर ये संसार के प्राणी दु:खी रहते हैं। ओह ! कितना दु:खी हैं ये संसार के प्राणी? तत्त्वज्ञानी पुरुष को धन के अभाव का दु:ख नहीं। कोई पुरुष धन वैभव के कारण दु:खी है ऐसा नहीं निरख रहा है तत्त्वज्ञानी पुरुष, किन्तु वह इस दृष्टि से दु:खी देख रहा है कि इन संसार के प्राणियों को पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है।यथार्थ ज्ञान न होने के कारण ये संसार के प्राणी अनेक प्रकार के विकल्प बनाया करते हैं और दु:खी होते रहते हैं। यह खुद सुख से परिपूर्ण भरा है,

आनन्दनिधि से परिपूर्ण है किन्तु उसका परिचय न होने के कारण यह जीव दु:खी हो रहा है। यों तत्त्वज्ञानी के अपने आप पर अनुकम्पा जगती है। चौथा गुण इसके प्रकट होता है आस्तिक्य। जो जैसा हे उसे वैसा मान ले यह आस्तिक्य भाव है। आस्तिक्य भाव के कारण भी बड़ी प्रसन्नता और निराकुलता रहती है। इस तत्त्वज्ञानी को। मैं हूँ अमूर्त। इस अमूर्त अन्तस्तत्त्व में छेदन, भेदन, संघट्टन आदि किसी की सम्भावना नहीं है। यह तो केवल अपने भावों से दु:खी है। जैसा है वैसा समझ जाने के कारण इसको कहीं भी अप्रसन्नता नहीं रहती। यों तत्त्वज्ञानी के प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा आस्तिक्य भाव रहते हैं, इस कारण वह सदैव सुखी रहा करता है। तो हे आत्मन् ! इस प्रशम भाव का आदर करके सांसारिक कष्टों की फाँसी को छेद दे और मोक्षस्थान के प्रति गमन कर।

श्लोक-1144

साम्यसूर्यां शुभिर्भिन्ने रागादितिमिरोत्करे।
प्रपश्यति यमी स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मन:।।1144।।

संयमी मुनि सम्भावरूपी सूर्य की किरणों से रागादिक तिमिर समूह के नष्ट होने पर परमात्मा का स्वरूप अपने आपमें अवलोकन करता है। परमात्मा का स्वरूप अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्दमय है। प्रभु वीतराग हैं, विज्ञान से भरे हैं। इन्होंने मोहरूपी अंधकार को ऐसा नष्ट कर दिया जैसे सूर्य की प्रचंड किरणों से अंधकार दूर हो जाया करता है। यह अनन्त चतुष्टय के धनी हैं, समस्त गुण इनके विकसित हैं, समस्त दोष इनके ध्वस्त हो चुके हैं। आत्मा ही परम उत्कृष्ट निर्मल अवस्था है, उससे बढ़कर और आदर्श क्या हो सकता है? निर्दोष, निराकुल, आनन्दमय एक स्थिति है परमात्मा की। उससे और उत्कृष्ट बात क्या होगी? उसका स्वरूप स्मरण आते ही अपने आपके स्वरूप का भान होता है और बाह्य की तृष्णायें आकुलताएँदूर होती हैं, स्वयं स्वयं में मग्न होता है। तो जो मुनि स्वभावरूपी सूर्य की किरणों से रागसमूह को नष्ट कर लेता है वह परमात्मस्वरूप को अपने आपमें देखता है। विषय और कषायों का ओट है जिससे प्रभु का दर्शन नहीं होता। यह ओट दूर हुई कि इसे परमात्मतत्त्व का दर्शन होने लगता है। मैं स्वयं पूर्ण हूँ, सब कुछ हूँ, अधूरा नहीं हूँ, अपने आपका जो सहज ज्ञानस्वरूप है वह अनुभव में आये फिर संकट का कोई काम नहीं रहता।

श्लोक-1145

साम्यसीमानमालम्ब्य कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम्।
पृथक् करोति विज्ञानी संश्लिष्टे जीवकर्मणी।।1145।।

भेदविज्ञानी पुरुष समता भाव की सीमा का आलम्बन करके अपने में ही अपने आत्मा का निश्चय करके मिले हुए और कर्मों को पृथक्-पृथक् कर देता है। देखिये कोई दो वस्तुवें साथ-साथ में हों, संयोग में हों तो उन्हें पृथक्-पृथक् करा देने वाली सीमा होती है। जैसे दो खेत पास-पास में हैं तो यह एक खेत है, यह दूसरा है ऐसा ज्ञान कराने के लिए उसमें मेड़ बना होता है, हद होती है, इसी प्रकार जीव और कर्म ये दो मिले हुए हैं, इन दो को हम अलग-अलग कर सकें वह है समता भाव। यों निश्चय करिये कि जहाँ तक साम्यभाव है वहाँ तक तो वह जीव भाव है और जहाँसाम्यभाव नहीं है वह सब कर्मभाव हैं। इसको यों निरखिये जैसे कि समयसार में कहा हे कि जीव क्या है? जीव केवल एक विशुद्ध चित्स्वभाव है। उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि नहीं हैं, कषाय भी नहीं हैं, संयमस्थान भी नहीं है। यहाँ तक बताया कि उसमें आध्यात्मस्थान भी नहीं है, वहाँ कोई डिग्रियाँनहीं हैं। तो यह जीव क्या है? एक शुद्ध चित्स्वरूप। वह है क्या? एक समता भाव का पूरा साम्यभाव। तो समझ लीजिए कि जितना चित्स्वभाव है वह तो है जीव और उसके अतिरिक्त जो भी विभाव परिणतियाँहैं वे तक भी जीव नहीं हैं। तो साम्य की उसमें सीमा है, या यों कह लीजिए कि चैतन्यभाव की एक सीमा है। जितना चैतन्यस्वरूप है वह तो है जीव और उसके अतिरिक्त जो भी विभाव हैं, परभाव हैं वे हैं सब अजीव। तो भेदविज्ञानी पुरुष समता भाव की सीमा का आलम्बन करके अपने में ही अपने आत्मा का निश्चय करें और जीव और कर्म को पृथक् करें। चित्स्वभाव के अतिरिक्त अन्य जो कुछ परिणतियाँहैं वे सब कर्म कहलाती हैं। यहाँ कर्म को पौद्गलिक कर्मरूप से न देखकर किन्तु आत्मा के द्वारा जो किया जाता है वह कर्म है, अर्थात् विभाव परिणमन सब कर्म हैं। वे हैं सब अजीव। यों जीव और अजीव में भेदविज्ञान किया जाता है। यों यह तत्त्वज्ञानी जीव मिले हुए जीव और कर्मों को इस प्रकार विभक्त कर देता है और यों विभाग करके फिर करता क्याहै कि जीव से उपेक्षा करके चित्स्वभाव रूप जो जीवतत्त्व है उस जीवतत्त्व में दृष्टि बनाना और उस ही में स्थिर होना यह संसार के संकटों से छूटने का उपायहै। यों जो समतापरिणाम का अनुभवन करता है उसके आत्मा का विशुद्ध ध्यान बना और विशुद्ध ध्यान के प्रताप से आत्मीय यह अनन्त निधि प्राप्त हो जाती है। उस ही ध्यान के लिए समतापरिणाम का प्रयोग करना यह उपदेश में कहा गया है। मोह रागद्वेष ये ही दु:ख की खान हैं। इन्हें जहाँतजा वहाँ सारे संकट दूर हो गए, यों समझना चाहिए।

श्लोक-1146

साम्यवारिणि शुद्धानां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम्।
इहैवानन्तबोधादिराज्यलक्ष्मी: सखी भवेत्।।1146।।

आत्मा का चमत्कार समता परिणाम में है। रागद्वेष न करना, पदार्थों में इष्ट अनिष्ट बुद्धि न होने देना, इस भाव में वह चमत्कार है कि उससे दूसरे भी प्रभावित होते हैं, शान्ति के निकट पहुँचते हैंओर संयम में भी प्रभावित होते हैं, शान्त स्वरूप में पहुँचते हैं। हम आप सब जो भी प्राणी दु:खी हैं समतापरिणाम न होने से दु:खी हैं। यह अटूट निर्णय रखना चाहिए। बाहर में मुझे कुछ कम मिला है अथवा परिजन कम हैं या अनुकूल नहीं हैं इस कारण से दु:ख नहीं है किन्तु खुद में समतापरिणाम नहीं ठहरता इसका दु:ख है। जो पुरुष समतारूप अमृत जल में शुद्ध हो गये हैं, नहा चुके हैं, अतएव उनके ज्ञानचक्षु खुल गए हैं, उन पुरुषों को तो यह ही अनन्त ज्ञानादिक राज्य की लक्ष्मी प्राप्त होती है। जैसे अनेक मनुष्यों का लक्ष्य यह बन गया है कि में लोक में राज्य में इज्जत अधिक पाऊँ, किसी का लक्ष्य यह बन गया है कि में धन वैभव अधिक जोड़ लूँ, किसी का कोई लक्ष्य बना है, किन्तु यदि एक मात्र यह लक्ष्य बन जाय कि मैं अपने आपके विशुद्ध स्वरूप को निहारूँ और यह ही मैं हूँ ऐसा निर्णय रखकर अपने आपके आत्मा के निकट बसकर प्रसन्न रहूँ। यदि एक यह मूल लक्ष्य बन जाय तो उसका उद्धार हो चुका। जगत के इन पौद्‌गलिक ठाठ बाटों में सिर मारने से, उपयोग फँसाने से, विकल्प मचाने से कौन से तत्त्व की सिद्धि हो जाती है? खूब निहार लो, अब तक कि जो चर्चा बीती है उससे भी परख लीजिए कि हमने पाया क्या है? कौनसी ध्रुव चीज पायी जो मेरे निकट रहे और धोखा न दे और शान्ति बनाये? यहाँ के समागमों में मग्न होने से लाभ न मिलेगा। चाहे कितना ही बढ़िया समागम हो, घर में स्त्री, पुरुष, बच्चे, बड़े सज्जन, बड़े आज्ञाकारी सब कुछ बढ़िया हो तिस पर भी उनमें मग्न होने का कर्तव्य नहीं है क्योंकि वे समस्त पर हैंऔर अध्रुव हैं, वियोग अवश्य होगा, अथवा आज कुछ है कल क्या परिणति बन जाय? किसी ने किसी का कोई निर्णय किया है क्या? आज कुछ स्थिति है कल कुछ बन जाय। कोई आज अनुकूल हे कहो ऐसा परिवार बन जाय कि मुँह देखना भी पसन्द न करें। आज कुछ वैभव हे कल क्या स्थिति बने? आज कुछ नहीं है, कल कितना ही वैभव आ सकता है। यहाँ के ठाठ-बाट मग्न होने के काबिल नहीं हैं। कुछ समतापरिणाम लाना चाहिए। तत्त्वज्ञान और विवेक की बात चित्त में लाना चाहिये। यह बात प्रयोग की है। करना किसी दूसरे को नहीं है। अपने आपमें ही अपने आप समाये-समाये गुप्त पद्धति से ही अपने आपमें यह स्वरूप दर्शन का स्वरूप मग्नता का कार्य करना है।

इस कार्य में कोई बाधा नहीं है। सो कदाचित् विरुद्ध भी हों तो अधिक से अधिक कोई बाहरी उपसर्ग कर सकेगा, पर उसके परिणामों का निरोध करने में कौन कार्यकारी हो सकता है?

जगत है यह। इसमें कोई विश्वास नहीं है। कोई सुख दु:ख दाता नहीं है। सब कुछ अपने आपको ही करना होगा। करना भी क्या—केवल एक भाव निर्मल बने, समतापरिणाम जगे ऐसी दृष्टि रखना है। परिवार में रहकर व्यवस्था करने के नाते कुछ ध्यान रखना चाहिए, पर उनमें ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ, ऐसी मान्यता अन्दर से न होनी चाहिए। कदाचित् जो आज घर में पुत्र आदिक हैंउन जीवों के बजाय अन्य कोई जीव उत्पन्न हो जाते तो उन्हें अपना मान लेते। जिन्हें आज अपना माना जा रहा हैवे सब भी इन अन्य जीवों की भाँति हैं। यहाँ मग्न होने में धोखा है? ज्ञान की सम्हाल रखी जाय तो जीवन अच्छा निकलेगा और जीवन के बाद भी अच्छा समागम रहेगा, उद्धार का अवसर मिलेगा। मनुष्यभव बारबार प्राप्त नहीं होता। बड़ी कठिनाई से अनेक कुयोनियों में जन्म धारण कर करके आज मनुष्य हुए हैं। तो यह मनुष्यता ऐसे ही नहीं मिल जाती। यहाँ श्रद्धान निर्मल, ज्ञान निर्मल और चारित्र की ओर यत्न करना चाहिए। सच तो यह है कि ऐसा निर्णय बना लें कि मेरा तो मात्र में ही हूँ। सब कुछ सुख दु:ख आदिक का रचने वाला हूँऔर अपने ही भावों से मैं सुखी होऊँगाओर अपने ही भावों से दु:खी होता हूँ। मेरे कार्य में किसी दूसरे का हस्तक्षेप नहीं है। यह यथार्थ तात्विक बात है। न माने तो पीछे पछताना ही पड़ेगा। न समता लाये तो दु:खी होना ही पड़ेगा। भला जो मिले हुए समागम में बहुत आसक्ति रखते हैंतो आखिर उसका होगा क्या अन्तिम परिणाम? वियोग होगा। उस वियोग के समय बहुत संक्लिष्ट होना पड़ेगा, कर्मबन्ध बनेगा, कुगतियों में उत्पन्न होनापड़ेगा। मनुष्यभव का एक-एक क्षण अमूल्य है। जो समय निकल गया वह पुन: वापिस नहीं आ सकता। जैसे पर्वत से गिरने वाली नदी पर्वत से नीचे गिरकर पुन: वापिस नहीं चढ सकती है, उसकी धार आगे ही बहेगी, इसी प्रकार जीवन के जो क्षण निकल गए वे फिर वापिस नहीं आते, जीवन तो आगे बढ़ जायगा। तो इस जीवन में कोई सत्संग उदारता का परिणाम कमा ले। सभी जीवों में समानता का व्यवहार रखें। सब कुछ अपना तन-मन-धन-वचन घरके उन चार-छ: जीवों के लिए ही है, ऐसा निर्णय न बनायें। अन्य जीवों के प्रति भी तो दया का भाव रहे। यदि अन्य जीवों के प्रति दयाहीनता का परिणाम रहा तो उसका बुरा परिणाम भोगना ही पड़ेगा। कुछ निहार तो लो सभी जीवों में वही स्वरूप है जो मेरे में है। ऐसा कोई अनुभव कर ले तो उसे एक शिवपथ बहुत निकट रहेगा। जो पुरुष समता के जल में शुद्ध हो गए हैं और इसी कारण जिनके ज्ञाननेत्र एकदम प्रकट स्पष्ट हो गए हैं उन पुरुषों को अनन्त ज्ञान आदिक लक्ष्मी निकट में ही प्राप्त हो जाती है। कल्याण के लिए भावों की निर्मलता चाहिए और उसही उपाय में वह एक विशुद्ध ध्यान बनता है, अभेद ध्यान बनता है जिस ध्यान के प्रताप से आत्मा आनन्दमय रहता है। अपने आपको अकेला निरखो और इसे शरण समझकर, इसे सबका जिम्मेदार समझकर, इसे ही आनन्दधाम निरखकर इसके ही निकट ज्ञानोपयोग द्वारा रहा करें, यही धर्मपालन का समस्त मर्म है।

श्लोक-1147

भावयस्व तथात्मानं समत्वेनातिनिर्भरम्।
न यथा द्वेषरागाभ्यां गृह्णत्यर्थकदम्बकम्।।1147।।

हे आत्मन् ! अपने आपको समतापरिणाम से उस प्रकार भावना कर। अपने आपको समता से भरा हुआ ऐसा भाव बना, उस प्रकार से भावना कर जिस प्रकार राग और द्वेष से यह पदार्थों का पुञ्ज ग्रहण में न आ सकेगा। मैं अकिञ्चन हूँ। देखिये यदि कुछ हो तो उस वाला अपने को मान लो। वह धर्म ही है। यदि इन्द्रिय के विषयों में सुख हो तो खूब भोगिये, धर्म ही है। कोई मनाही की बात नहीं। यदि परिग्रहों के संचय में शान्ति होती हों तो वह भी धर्म है, पर होता तो नहीं हे ऐसा। कोई कहे कि उस समय तो शान्ति हो ही जाती जिस समय विषयसाधन बनाया है, भोग उपभोग चल रहा है। लेकिन उस समय भी शान्ति नहीं है। शान्ति चीज और है और कल्पना की मौज और है। जिस भाव में शान्ति मिले वह भाव धर्म हे और शान्ति का स्वरूप तो यथार्थ निरख लेना चाहिए। शान्तिभाव क्या चीज है? जहाँकोई तरंग न हो, विकल्प न उठे, कल्पना न जगे, कौन इष्ट है, कौन अनिष्ट है ऐसा परिणाम न बने, शान्ति उस परिणाम में है। तो अपने आपको मैं शान्त हूँ, समता से निर्भर हूँ ऐसी बारबार भावना बनायें, ऐसा चित्त में भायें तो यह बात प्रकट हो जायगी। जिस रूप से अपने आपको भाये उस रूप से विकास हुआ करता है और वही संतति चलती रहती है। मैं यह देह वाला हूँ ऐसी वासना बनी रहेगी तो मरेंगे, फिर देह मिलेंगे क्योंकि देह मिलेंगे क्योंकि देह को अपना रखा है। जैसा अपने आपको भाये उस जाति का फल मिलेगा। तो अपने आपको केवल ज्ञानस्वरूप समता से निर्भर केवल ज्ञानज्योतिमात्र ऐसा अनुभवें। ऐसा अनुभव कर लिया इसकी परख यह है और वह परख बाद में की जा सकती है, अनुभूति के काल में नहीं, अनुभूति के काल में नहीं। ज्ञानस्वरूप की अनुभूति के समय में तो गटागट आनन्द का अनुभव किया जाता है परख नहीं की जाती। उस स्थिति की परख, अनुभव के बाद में होती है। कैसी होती है वह स्थिति? ओह !जगत के किसी भी अन्य पदार्थ की कल्पना न थी, विकल्प न था, इष्ट अनिष्ट के भाव की तो कहानी ही क्या करें? क्या था वहाँ ? केवल निज का विकास, निज का प्रकाश। तो यह बात तो तभी प्रकअ होगी जब इस स्वभाव रूप में अपने आपकी बारबार भावना बनाएं। हे आत्मन् ! अपने आपको समताभाव से निर्भर अर्थात् खूब अमृत से भरा हुआ अपने आपको निरख, ताकि रागद्वेष के द्वारा इन अर्थ समूहों का ग्रहण न किया जाय।

ध्यान का यह ग्रन्थ है और ध्यान उसी का नाम है जहाँ एक विशुद्ध स्वरूप में ज्ञान एकाग्र हो जाय, उसी को ही ध्यान कहते हैं। उसका उपाय है समतापरिणाम होना। यह रागरूपी आग इस जीव को जला रही है, उसके बुझाने का उपाय समतारूपी अमृत का सिंचन करना है। यों अपने आपको समता से भरपूर निरखें। किसी बच्चे को बहुत-बहुत गालियाँ ही दी जाया करें, तू मूर्ख है, गधा है, बेवकूफ है, कुछ नहीं समझता है तो वह अपने आपमें ऐसी ही भावना बना लेगा, मैं मूर्ख हूँ, बेवकूफ हूँ, तो भावना बनाने से वह उस ही तरह की चेष्टा करने लगेगा, और एक बच्चे को तू राजकुमार है, तू बहुत बुद्धिमान है, चतुर है, तू ने यह काम ठीक किया, इस प्रकार से उसे बोला जाय तो वह उस रूप अपने में अनुभव करेगा और वैसी ही वृत्तियाँकरेगा। उससे एकउसमें सभ्यता जगेगी और वह शान्त चित्त रहेगा। अपने आपको अच्छे कार्यों में लगायेगा, ये सब बातें बन जायेंगी। सब कुछ भावना पर निर्भर है। हम अपने आपको कैसा मानें? बस इस ही बात पर सारा भविष्य निर्भर है। जब तक यह माना जा रहा है कि मैं यह ही हूँजो जाति, कुल, शरीर, ढंग, इज्जत जो कुछ भी रंग है उस मात्र मैं हूँतो वह इन ही रंगों के अनुकूल अपनी चेष्टा बनायेगा।अपने आपको यदि मैं शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ, केवल भावमात्र हूँ, एक भाव का उत्पाद कर लिया,भावरूप परिणम लिया, कुछ जानकारी बन गयी। जानकारी बनी रहने के सिवाय और मेरा कोई स्वरूप नहीं, और कुछ मेरा कार्य नहीं। ऐसा यदि अपने आपको ज्ञानस्वरूप निहारता रहे तो ये चेष्टायें, ये विकल्प, ये आकुलताएँ सब ध्वस्त हो जाती हैं। इतना बड़ा काम पड़ा हैअपने सामने, अपने आपको कैसा मानते रहें, कैसा निरखते रहें।

श्लोक-1148

रागादिविपितं भीमं मोहशार्दूलपालितम्।
दग्धं मुनिमहावीरैः साम्यधूमध्वजार्चिषा।।1148।।

यह रागादिक रूप भयानक बन, मोहरूपी सिंह के द्वारा रक्षित है। जिस वन में सिंह हो उसे कोई उजाड़ेगा क्या? वहाँ कोई लकड़ी काट लेगा क्या?किसी की हिम्मत तो न पड़ेगी। उनकी रक्षा सिंह करता है। बस सिंह का बना रहना इतना ही बहुत है। उस वन की रक्षा बनी रहती है। ऐसे ही यह रागादिक रूपभयानक वन मोह के द्वारा रक्षित है। मोह होने से यह रागादिक भाव बराबर खूब बने रहते हैं। इन्हें मिटा सकने वाला कोई नहीं है। मोह भाव है तो रागादिक खूब रह जायेंगे, उन्हें कौन मिटा सकता है? राग का मूल तो मोह है, जड़है, जैसे जड़रहे तो वृक्ष हरियाता रहे ऐसे ही अज्ञान रहे, स्वरूप का विभिन्न जैसा रूप है, मर्म है उसका परिचय न हो यह तो अज्ञान है। इस अज्ञान की जड़ हैयह राग, वृक्ष का फैलाव होता है।

उस वन को मुनि रूप महासुभटों ने सम्भावरूपी अग्नि की ज्वाला को दग्ध कर दिया है अर्थात् समतापरिणाम से राग का विध्वंस कर दिया है।

श्लोक-1149

मोहपङ्के परिक्षीणे शीर्णे रागादिबन्धने।
नृणां हृदि पदं धत्ते साम्यश्रीर्विश्वविन्दता।।1149।।

पुरुषों के हृदय में मोहरूपी कर्दम के सूखने से और रागादिक बन्धनों के दूर होने पर यह जगत विजय समतारूपी लक्ष्मी में निवास करता है। देखिये यहाँ मनुष्य में भी लोगों की दृष्टि में आदर्श और महान् तथा पूज्य आस्था के योग्य कौन मनुष्य माना जाता है? चाहे गृहस्थी में हो, किसी स्थिति में हो, जिसमें समता की बात अधिक पायी जाय जनता के बीच में वह आदर्श मनुष्य बनता है और जिसके चित्त में पक्ष हो, रागद्वेष की बुद्धि बने उस पुरुष का आदर जनता में नहीं रहता है तो लोकव्यवहार में भी आदर्श ऊँचा समतापरिणाम वाला मनुष्य माना जाता है और फिर परमार्थपथ में उस मोक्षमार्ग में तो समता का ही आदर्श है सर्वत्र। हम निज प्रभु की आराधना करते हैं, पूजते हैं वह प्रभु हैं क्या और? समता के पुञ्ज हैं, जिनके रागद्वेष नहीं है। जो केवल अपना ज्ञान विशुद्ध बनाये रहते हैं और इस विशुद्ध वृत्ति के कारण जो आत्मा के निकट ही वर्तते रहते हैं, वे ही तो यह परमात्मप्रभु हैं। शान्ति तो जिस विधि से मिलती है उस विधि से ही मिलेगी। सोचने से, विकल्पों से, अपनी शान से, उद्दण्डता से, रागद्वेष मोह भाव से शान्ति नहीं प्राप्त होती। जिनका निर्णय यथार्थ है, ज्ञान सही है वह कदाचित् उस ज्ञान का परिपालन भी न कर पाता हो तब भी उसके संकट उसके क्लेश यों समझिये कि 90-99 प्रतिशत मिट चुके हैं। जितने कर्मों की काट-छांट सम्यक्त्व होने के समय होती है उतनी काट-छांट करने से नहीं होता। अनन्त संसार जिस भाव से मिट जाता है वह भाव प्राप्त हो जाय तो आगे की मंजिल बहुत थोड़ी सी रह जाती है। हम अपने आपको ज्ञानमात्र समता से भरपूर, सबसे निराला देह से भी न्यारा अनुभवा करें। इस प्रतीति से ही कल्याण निकट है।

श्लोक-1150

आशा: सद्यो विपद्यन्ते यान्त्वाविद्या: क्षयं क्षणात्।
भ्रियते चित्तभोगीन्द्रो यस्य सा साम्यभावना।।1150।।

जिसके ममता की भावना है उस रूप अपने आपका अनुभव बनाना है। अपने आपका ऐसा संतुलन बना लेना हे कि यह उपयोग न इष्ट में जाय, न अनिष्ट के पलड़े में जाय। कोई सा भी पलड़ा भाररूप न बने ऐसा संतुलन जिस ज्ञानतराजू का बन जाता है उस पुरुष की आशा शीघ्र ही दूर हो जाती है। अविद्या क्षणमात्र में क्षय को प्राप्त हो जाती है, चित्त विलीन हो जाता है, विकल्प तरंग सब विनष्ट हो जाते हैं। देखिये एक नई और अपूर्व दुनिया में प्रवेश किया जा रहा हे। बल्कि इतनी सी बात में कि हम अपने आपको यथार्थ स्वरूप में मान लें। मैं किस रूप हूँ इतना सा ही काम और जिसका फल देखो तो अनन्त शान्ति परम पवित्रता, ये सब चमत्कार उत्पन्न होते हैं। इसमें क्या जाता है यदि अपना ज्ञानप्रकाश यों बन जायकि जैसा में स्वयं हूँ तेसा मैं अपने आपको मान लूँ। सोच लीजिए इसमें कौनसी कठिनाई है? कहाँ विरोधता है? क्या गरीब नहीं कर सकते यह? कोई भी कर ले पर ऐसा अनुभव आ जाय तो समझ लीजिए सब कुछ पाया और इस अनुभव बिना कैसा ही समागम मिला हो वह सब धोखा है। ये समागम विश्वास के योग्य नहीं हैं, हितरूप नहीं हैं, परतत्त्व हैं। अपने आपकी सुध लेना यह बहुत बड़ा अपूर्व काम है, सुगम और स्वाधीन है, इस पर ही हमारा कल्याण निर्भर है।

श्लोक-1151

साम्यकोटि समारूढो यमी जयति कर्म यत्।
निमिषान्तेन तज्जन्मकोटिभिस्तपसेतर:।।1151।।

समतापरिणाम का महात्म्य बतला रहे हैं कि जो पुरुष समता की कोटि पर आरूढ़ हो जाता हे वह पुरुष जितने कर्मों का ध्वंस करता है केवल एक क्षणमात्र में उतने कर्मों का ध्वंस अन्य पुरुष जो कि समताभाव में नहीं लगा है, रागद्वेष इष्ट अनिष्ट बुद्धि में फँसा है वह पुरुष करोड़ों जन्म भी कठिन से कठिन तपश्चरण भी कर डाले तो भी उतने कर्मों का ध्वंस नहीं होता, इसका कारण यह है कि कर्म आते हैं तो भाव का निमित्त पाकर और इसी प्रकार कर्म नष्ट होते हैं सो भी भाव का निमित्त पाकर। तो जब भाव एक शुद्ध स्वभाव का आलम्बन करने वाला बनता है तो भी उसे अनेक जन्मों में बांधे हुए कर्मों का विजय प्राप्त कर लेता है। समतापरिणाम कहो या तीन गुप्ति कहो। मन वश में करना, वचन वश में करना और काय वश में करना ये तीन योग जब वश में होते हैं तब कर्मों पर विजय प्राप्त कर लिया जाय और समताभाव आ जाय। जब तक चित्त चंचल है, चित्त में रागद्वेष की वासना बसी हुई है तब तक समतापरिणाम नहीं आ सकता। तो

धर्मपालन कहो और रत्नत्रय क्षमा आदिक 10 धर्म किन्हीं भी शब्दों में कहो, सबका मर्म समतापरिणाम से है। जहाँ समता भाव हे वहाँ धर्म है, जहाँसमता नहीं हे वहाँ धर्म नहीं है। वे मुनि जो यथार्थ आत्मा का स्वरूप जानते हैं और रागद्वेष इष्ट अनिष्ट बुद्धि में कदाचित् नहीं फँसते हैं वे योगी ऐसा साम्यभाव लाते हैं अपने उपयोग में कि जिस कारण क्षणमात्र में ही अनेक भवों में बांधे हुए कठिन से कठिन कर्म भी ध्वस्त हो जाते हैं।

श्लोक-1152

साम्यमेव परं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः।
तस्यैव व्यक्तये नूनं मन्येऽयं शास्त्रविस्तरः।।1152।।

समस्त विश्व में दर्शन कर लेने वाले अर्थात् सर्वज्ञ सर्वदर्शी जितेन्द्रदेव ने यह ध्यान बताया है कि समतापरिणाम आ जाय। उत्कृष्ट ध्यान है यह। रागद्वेष न जगे, समता भाव आये, यही है उत्कृष्ट ध्यान। जिसके प्रसाद से संसार के समस्त संकट दूर होते हैं, उस ही ध्यान के प्रकाश करने के लिए यह सब शास्त्र का विस्तार बनाया गया है। कितनी तरह के शास्त्र हैं? कितने शास्त्र होंगे आचार्यप्रणीत? तो सौ-दो-सौ हजार, दो हजार, दस हजार कितने ही बता दो। बहुत-बहुत शास्त्र हैं पर उन सब शास्त्रों में लिखा क्या है? तत्त्व की बात क्या आती है? यह सब एक ही है क्या? समताभाव की शिक्षा, प्रथमानुपयोग हो, करणानुयोग हो, चरणानुयोग हो, द्रव्यानुयोग हो, कितने ही प्रकार के ग्रन्थ हों उन समस्त जैन प्रणीत ग्रन्थों में मर्म की बात यह बताया कि समतापरिणाम का आश्रय लो। प्रथमानुयोग में कथानकों द्वारासब कुछ बताकर यह शिक्षा दी गयी है कि महापुरुषों ने भी बड़े-बड़े वैभव पाकर अन्त में समतापरिणाम उत्पन्न किया, उसके फल में निर्वाण पाया। वे महापुरुष जो बड़े बलिष्ठ थे, जिनका साम्राज्य एकछत्र था, उन्होंने भी संसार में ही रमकर अपना अंतिम समय नहीं बिताया। अंतिम समय बिताया त्याग में, तपश्चरण में, वैराग्य में। उससे पहिले बड़ी-बड़ी बातें की, बड़ा युद्ध किया, बड़ा परिवार बना, बड़ी इज्जत, कीर्ति फैली।बहुत-बहुत कार्य किया गृहस्थी में रहकर, किन्तु अन्त में उन सब महापुरुषों ने एक ही मार्ग का आलम्बन लिया— त्याग का, तपश्चरण का, वैराग्य का सार मिलेगा तो ज्ञाता द्रष्टा रहने में।विरक्त रहने में मिलेगा। अन्य तो सब उपद्रव हैं, धोखा है अथवा कोई सार की बात नहीं है।

श्लोक-1153

साम्यभावितभावानां स्यात्सुखं यन्मनीषिणान्।
तन्मन्ये ज्ञानसाम्राज्यसमत्वमवलम्बते।।1153।।

जिसने समताभाव से अपने को प्रभावित किया है अर्थात् समता का प्रयोग किया, समता की, भावना की ऐसे बुद्धिमान पुरुषों को जो सुख देता है—आचार्यदेव कहते हैं कि मैं तो ऐसा समझता हूँ, मानता हूँ कि वह ज्ञानसाम्राज्य की समता का आलम्बन करता है। समतापरिणाम से केवल ज्ञान की उत्पत्ति होती है। योगीश्वर पहिले वीतराग बनते हैं पीछे सर्वज्ञ बनते हैं। रागद्वेष मोह ध्वस्त हो जाय ऐसी निर्मल अवस्था पहिले आती है उसके पश्चात् सर्वज्ञता प्रकट होती है अर्थात् अब वे परमात्मा हो गए। समस्त लोक को अपने केवल ज्ञान से स्पष्ट जाना करते हैं। जीव का प्रधान उद्देश्य है कष्ट न होना और शान्तभाव बर्तना। तो शान्ति में कारण वीतरागता है। सर्वज्ञता तो वीतराग बनने का एक माहात्म्य है। सब जान लिया। सबके जान लेने से शान्ति नहीं आयी किन्तु वीतरागता होने से शान्ति आयी। कम भी जाने कोई और रागद्वेष न हो तो शान्ति होगी। यद्यपि वह उत्कृष्ट शान्ति नहीं हे और स्थिर नहीं है, लेकिन वीतरागता का स्वभाव ऐसा है कि वहाँ शान्ति अवश्य आयगी। जहाँराग है वहाँ अशान्ति है। अपने आपमें शान्ति प्रकट करने के लिए राग परिणाम का त्याग करें ऐसा अपना सुदृढ़ निर्णय बनायें।

श्लोक-1154

य: स्वभावोत्थितां साध्वीं विशुद्धिं स्वस्य वाञ्छति।
स धारयति पुण्यात्मा समत्वाधिष्ठतं मन:।।1154।।

जो पुरुष स्वभाव से उत्पन्न हुई समीचीन विशुद्धि को चाहता है वही समतापरिणाम से भरपूर अपने मन को बनाता है। जैसी चाह जगी परिणति उस ओरजाती है। यदि पापवृत्ति की चाह उत्पन्न हुई तो मन पाप की और बहेगा और यदि एक शुद्ध भाव की ओर दृष्टि हो, जैसा अपना सहज स्वरूप है उस रूप मानने की रुचि जगे तो वह वीतराग बनेगा, इसे शान्ति प्राप्त होगी। जो पुरुष स्वाभाविक आत्मा की निर्मलता चाहते हैं उनको समतापरिणाम की सिद्धि होती है और वे ही सच्चे पुण्य रूप पवित्र आत्मा हैं।

श्लोक-1155

तनुत्रयविनिर्मुक्तं दोषत्रयबिवर्जितम्।
यदा वेत्त्यात्मनात्मानं तदा साम्ये स्थितिभवेत्।।1155।।

समतापरिणाम में अपना उपयोग कब जगता है जब यह जीव अपने आपको ऐसा जानने लगता हे कि यह मैं शरीर वाला हूँ। अपना इस समय तीन प्रकार के शरीरों का संयोग है, जो यह ढांचा पड़ा है, देह लगा है। इस देह में तीन प्रकार के शरीर हैं— एक औदारिक, दूसरा तैजस और तीसरा कार्माण। कार्माण शरीर तो कर्मों के पुञ्ज को कहते हैं। वह अत्यन्त सूक्ष्म है, इन्द्रिय द्वारा गम्य नहीं होता और तैजस शरीर इन औदारिक शरीरों में जो तेज लगा रहता है वह है। और औदारिक शरीर तो प्रकट दिखते हैं। ये तीन प्रकार के शरीर लगे हैं अपने। इनमें से दो तो सूक्ष्म शरीर हैं तैजस और कार्माण और यह औदारिक स्थूल शरीर है। मरण करने पर तैजस और कार्माण ये दो शरीर तो साथ जाते हैं और औदारिक शरीर यही विघट जाता है। जैसा कि अन्य लोग भी कहते हैं कि मरने के बाद इस जीव के साथ सूक्ष्म शरीर जाता है और स्थूल शरीर यही पड़ा रहता है। वे सूक्ष्म शरीर हैं तैजस और कार्माण। यह संसारी जीव अभी तब एक समय के लिए भी शरीररहित नहीं बन सका। लोग तो यह कह देते हैं कि यह शरीर छूटा, इससे आत्मा निकला कि यह आत्मा शरीररहित हो गया और कुछ लोग तो यों बताते हैं कि वह आत्मा तब तक जगत में डोलता रहता है जब तक कि उस मरने वाले के नाम की पंगत न कर दी जाय। और जहाँ तेरही हुई कि अन्य शरीर में जन्म लेने की उसे सर्टिफिकेट मिल जाती है। पर ऐसा नहीं है।

आज तक यह जीव एक क्षण भी शरीररहित नहीं रह सका। सदैव शरीर रूप रहा। जब तक वह स्थूल शरीर है तब तक तो इस शरीर में रहा और जब इस शरीर को छोड़कर चल बसा तो रास्ते में सूक्ष्म शरीर को लेकर गया। वे हैं तेजस तथा कार्माण शरीर। यदि यह एक क्षण के लिए भी शरीररहित बन जायतो फिर सदैव ही शरीररहित रहेगा। फिर शरीर मिलने का कोई कारण नहीं है। तो यह जीव आज तक भी शरीररहित नहीं रहा, और मरण भी किसका नाम है? जो पदार्थ सत् हैं उनका कभी नाश नहीं होता जीव सत् है, उसका नाश न होगा, मरण न होगा। यह शरीर है इसमें भी मूलभूत तो है परमाणु, सो वे परमाणु कभी नष्ट न होंगे। लेकिन उन परमाणुवों के मिलजुलकर जो स्कंध बनते हैं उसे भी द्रव्य कह डालते हैं और फिर यह कहा कि शरीर विघट गया, चौकी जल गयी, दरी फट गयी, तब उन स्कंधों को पुद्गल मानकर कहते हैं तो यह शक हो जाती कि पुद्गल नष्ट हो जाता है। पुद्गल भी नष्ट नहीं होता, जीव भी नष्ट नहीं होता। यह शरीर कोई पदार्थ नहीं है। ये अणु-अणु रूप जो पदार्थ हैं उन पदार्थों का समुदाय है। मात्र एक अणु ही कहीं दृश्य नहीं बन गया। तो आत्मा का मरण क्या? लोग मरण से यों ही घबड़ाते हैं कि यहाँ लोगों से कुछ

परिचय बन गया है और उनमें ममता जग गयी है, अब छोड़कर जाना पड़ रहा है तो यह क्लेश है कि बड़े व्यवसाय, बड़े प्रयत्न से हमने यह धन वैभव इकट्ठा किया और आज यह सब छूटा जा रहा है, यह भाव आता है उसका क्लेश बढ़ता है। मरण में क्या हानि हुई? पर मोह लगा हे तो वह हानि समझता है और इसी कारण मरण से डरता है। तो आत्मा सद्भूत है और वह स्वभाव से खण्डरूप है, समता का उसमें स्वभाव है। तो समता वह स्वभावरूप भावना बनाने से बुद्धिमान पुरुषों को एक अनुपम विलक्षण सुख उत्पन्न होता है। वह सुख क्या है? वह ज्ञान साम्राज्यरूप लक्ष्मी को प्रदान करता है। मोक्ष मिलेगा और वहाँ समस्त पूर्ण ज्ञान भी मिलेगा। किन्तु वह किस उपाय से, किस आधार से मिलता है?वह आधार है समता का। रागद्वेष न हो, फिर क्या दु:ख? सबके दु:ख लगे हैं और वह किसी न किसी चिन्ता में हैं। मान लो इस समय शास्त्र अच्छी तरह सुन रहे हो तो नहीं जा रहा है किसी दूसरी जगह चित्त, मगर वासना में तो सब बसा हुआ है। तो जब रागभाव जगता है, कषायभाव बना होता है तो उसमें ऐसी ही खूबी है कि वह अपने आधार को छोड देता है और यह ज्ञान दरदर बाह्य पदार्थों की आशा करके भटकता रहता है। सब संकटों के दूर करने का उपाय है समतापरिणाम। सो अपने आपको इस प्रकार जानें समतापरिणाम में स्थिति और अधिकार पाने के लिए और ऐसा भाव बनायें कि मैं सर्व से रहित हूँ, राग द्वेष मोह ये जो तीन भाव हैं इनसे मैं दूर हूँ। इस प्रकार अपने आपके आत्मा को जानें तो इस ज्ञान के बल से समतापरिणाम में स्थित हो सकते हैं। विसमता में क्लेश है। समता में आनन्द ही आनन्द है। तत्त्वज्ञानी पुरुष का इतना प्रकट बल रहता है कि वह बाह्य पदार्थों के समागम से अपना लाभ नहीं समझता और बाह्य पदार्थों की हानि से अपनी हानि नहीं समझता। किसी भी स्थिति में सम्यग्दृष्टि पुरुष घबड़ाता नहीं है। तो समतापरिणाम में स्थिति करने के लिए अपने आत्मा को निर्दोष और मन, वचन, काय योग से रहित ऐसी अपने आत्मा की भावना करे तो उसके समतापरिणाम में स्थिति बनती है।

श्लोक-1156

अशेषपरपर्यायैरन्यद्रव्यैविलक्षणम्।
निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्यं प्रसूयते।।1156।।

जब कोई योगी अपने आत्मा के विषय में निश्चय करता है कि यह में समस्त परपर्यायों से, परद्रव्यों से, औपाधिक तत्त्वों से भी विलक्षण यह मैं आत्मा हूँ इसके ही निश्चय ध्यान बनता है और अष्टकर्मों से मुक्त हो जाता है। जिस शरीर को निरखकर हम लोक में व्यवहार बनाते हैं और अन्य लोग भी

जिस शरीर को देखकर वचनव्यवहार बनाते हैं वे सब परपर्यायें हैं, परद्रव्य हैं, औपाधिक भाव हैं, उनसे रहित यह मेरा आत्मा है। निश्चयदृष्टि से जैसा आत्मस्वरूप बनता है उसे ही कई लोगों ने अद्वैत ब्रह्म का रूप रखा है। तो एक दृष्टि तो भाव बनाई, पर व्यवहार का विरोध करने के लिए निमित्तनैमित्तिक विधान का भय नहीं करता। इस कारण कुछ ज्ञान की बात करके समतापरिणाम में ठहर नहीं पाता। समता का आलम्बन ही सर्वोपरि पुरुषार्थ है। ऐसी शुद्ध भावना हो कि जिसमें रागद्वेष के पुट भीतर न आ सकें। जहाँऐसी समता प्राप्त होती है वहाँ ही निश्चयध्यान बनता है जिस ध्यान के प्रसाद से आत्मा अष्टकर्मों से मुक्त हो जाता है।

श्लोक-1157

तस्यैवाविचलं सौख्यं तस्यैव पदमव्ययम्।
तस्यैव बन्धविश्लेष: समत्वं यस्य योगिन:।।1157।।

जिस योगी पुरुष में समतापरिणाम जगता हैउस योगीश्वर के ही अविचल सौख्य उत्पन्न होता है। ऐसा आनन्द जिसका कभी वियोग न हो। वह आनन्द उस योगी के प्राप्त होता है जिसने आत्मा का ध्यान करके पवित्र अपने उपयोग को बना लिया है, उसी के अविनाशी पद प्रकट होता है। ये संसार के जो कुछ समागम हैं वे सब कर्मानुसार हैं। जब जो काम नहीं होना है उसके लिए पुरुष यदि तीव्र वाञ्छा करे, अधिक मेहनत करे, श्रम करे तब भी नहीं होता। तो इससे क्या शिक्षा मिलती है कि आत्मा के अनुभव का काम मात्र आत्मा के निकट रहने से होता है। बाह्य पदार्थों के संचय से समता प्रकट नहीं होती है। सर्व आनन्द समतापरिणाम में ही है। लोक में उसका बहुत आदर होता है जो रागद्वेष नहीं करता, जो किसी का पक्षपात नहीं करता, अपने आप उसमें समता, गम्भीरता, धीरता रहती है उस पुरुष के यहाँ ही बड़ी आस्था होती है। तो अविचल आनन्द रस ही योगी के हैं और अविनाशी पद भी उस ही योगीश्वर के हैं। भव-भव के बाँधे हुए कर्मबंधों का विनाश उस ही योगी के है जिस योगी ने समतापरिणाम की साधना कर ली है।

श्लोक-1158

यस्य हेयं न चोदयं जगद्विश्वं चराचरम्।
स्यात्तस्यैव मुने: साक्षाच्छुभाशुभमलक्षय:।।1158।।

जिस मुनि के चराचर रूप समस्त जगत में न कोई हेय रहा, न कोई उपादेय रहा, उस मुनि के ही शुभ अशुभ कर्मरूपी मलों का शीघ्र क्षय हो जाता है। स्वरूपदृष्टि से भी देखो तो आत्मा अमूर्त है, वह किसी भी पदार्थ को पकड़ नहीं सकता। जब किसी पदार्थ को आत्मा ग्रहण नहीं करता तो फिर उसने त्यागा ही क्या? त्याग भी क्या चीज रही? आत्मा तो सकलंक है ही नहीं। तो जो कुछ ग्रहण करने को नहीं तो त्यागने को भी क्या है? जीव अपने भाव ही तो ग्रहण करता और भावों का ही परित्याग करना। तो जो इतना समतापरिणाम में आ गया कि जिसको न कुछ हेय है, न कुछ उपादेय है उस ही मुनि के शुभ और अशुभ कर्मों का शीघ्र विनाश होता है। समता की बड़ी महिमा है। यहाँ ही समता रहे तो लोक के अनेक संकट टलते हैं और फिर मोक्षमार्ग में इस समता से ही पहुँचा जा सकता है। समता बिना मोक्षमार्ग कभी नहीं बनता। तो उस समतापरिणाम का आदर योगीश्वर करते हैं जिनके प्रताप से ऐसा उत्कृष्ट ध्यान बनता कि भव-भव के कर्म ध्वस्त हो जाते हैं। जाप, व्रत, तप, विधान आदि से यही शिक्षा लें कि मेरे विषयकषाय दूर हों और हम अपने आपको ज्ञानस्वरूप अनुभव करते रहें।

श्लोक-1159

शाम्यन्ति जन्तव: क्रूरा बद्धवैरा परस्परम्।
अपि स्वार्थे प्रवृत्तस्य मुने: साम्यप्रभावत:।।1159।।

समतापरिणाम में ऐसा प्रभाव है कि इस समतापरिणाम के कारण मुनि के निकट जितने भी जंतु आयें, क्रूर से भी क्रूर हों और उनका परस्पर में एक दूसरे से बैर हों और उनका परस्पर में एक दूसरे से बैर हो तो भी वे शान्त हो जाते हैं। मुनिराज वहाँ कुछ नहीं कर रहे। वे अपने आत्मीय प्रयोजना में ही लग रहे। अपना जो निर्मल ज्ञानदर्शन आनन्दस्वरूप है उस स्वरूप में ही मग्न हो रहे हैं, लेकिन अपने स्वरूप में मग्न होने से जो समतापरिणाम बना उस परिणाम का ऐसा प्रताप हे कि क्रूर भी जंतु शान्त हो जाते हैं। उनके निकट सिंह और हिरण एक साथ बैठे रहते हैं। उनका बैर खतम हो जाता है, परस्पर प्रीतिपूर्वक रहते हैं। यह सब समता का परिणाम है।

श्लोक-1160

भजन्ति जन्तवो मैत्रीमन्योऽन्यं त्यक्तमत्सरा:।

समत्वालम्बिनां प्राप्य पादपद्माचितां क्षतिम्।।1160।।

जो समतापरिणाम का आलम्बन लेते हैं उनके चरणकमलों से पूजित जो पृथ्वी है वहाँ जो-जो भी आ जाते हैं वे सब जंतु आपस में द्वेष त्याग देते हैं और परस्पर मैत्री भाव रखने लगते हैं। आखिर वे भी संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव हैं। जो क्रूर जन्तु उनके निकट बैठते हैं वे बैर छोड़कर और परस्पर में मित्रता की बात रखते हैं, वे भी संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव हैं। उनके भी मन है, उन पर प्रभाव पड़ता है उस समतापरिणाम के वातावरण का। जैसे यहाँ भी जैसे मनुष्य के पास बैठो वैसा प्रभाव बनता है। तो यहाँ एक साधारण रूप से एक थोड़े प्रभाव की बात हे और वहाँ उन विशिष्ट योगीश्वरों के उनका समता का प्रभाव अपूर्व होता है। जिनके रागद्वेष नहीं हैं किसी भी जीव का जो बुरा नहीं चाहते हैं उनके देह पर कितने भी क्रूर जीव उपसर्ग करें, उनकी चमड़ी छीलें, सिर पर अँगीठी जलायें, कैसा ही उपद्रव करें, इतने पर भी चूँकि उन्होंने ज्ञानस्वभाव का आश्रय किया है और उनका अहं रूप से अनुभवना है, अतएव ऐसे उपद्रव कार्यों पर भी उनके बैरभाव नहीं जगता। ऐसी समता जिनके जग गयी है उन पुरुषों के निकट भूमि पर जो भी क्रूर से क्रूर जंतु आ जायें तो भी मात्सर्यभाव छोड देते हैं और परस्पर में मित्रता का आचरण करने लगते हैं।यह सब समता का प्रताप है। समता का प्रताप खुद में तो एक अपूर्व आनन्द का अनुभव जगे ऐसा होता है और बाहर में लोग भी बैर छोड दें, मात्सर्य त्यागकर अपने आपमें प्रमुदित रहें ऐसाप्रताप होता है। वे योगीश्वर वर्तमान में अपनी योगसाधना में रहते हैं अत: समताभाव है किन्तु उन्होंने पूर्व समय में जो भी कर्म बाँधा था या किसी भी प्रकार दूसरों को उनसे तकलीफ पहुँची थी, जबकि वे योगी न थे और उस समय बांधे हुए कर्म भी उदय आने पर उन पर उपद्रव भी हो जाता था। किसी-किसी के तो एकतरफा बैर होता है। न भी किसी भव में किसी का अनिष्ट चाहा लेकिन दूसरे जीवों का भ्रम बढ़ता जाय और उनसे वे बैर बाँध लें ऐसी स्थिति भी हो जाती है, लेकिन जो योगीश्वर हैं, जिन्होंने आत्मतत्त्व का अनुभव किया है उनके बैरियों के प्रति भी बैर नहीं जगता। यथार्थ निर्णय है। अब यह भाव है कि मेरे को दु:खी करने वाला कोई दूसरा जीव हो ही नहीं सकता। कदाचित् उपद्रव भी हो रहा हो तो उसमें अपना ही उपार्जन किया हो, कर्मों का यह सब फल है। आत्मतत्त्व का अनुभव करने वाले योगीश्वर दूसरों पर ईर्ष्याभाव, बैरभाव, विरोधभाव नहीं लाते। ऐसे योगियों के निकट जो भी जंतु आयें वे सब क्रूरता को त्याग देते हैं और परस्पर में मित्रता का बरताव करते हैं।

श्लोक-1161

शाम्यन्ते योगिभि: क्रूरा जन्तवो नेति शङ्कयते।

दावदीप्तमिवारण्यं यथा वृष्टैबर्लाहकैः।।1161।।

योगियों के निकट क्रूर जंतु आ जायें वे सब शान्त हो जाते हैं, इसमें शंका की कोई बात नहीं है। जैसे दावानल से दीप्त हुआ कोई वन है तो वह जैसे वर्षा करने वाले मेघों से एकदम शान्त हो जाता है, उसमें कोई आश्चर्य करता है क्या? कुछ भी आश्चर्य नहीं। तेज अग्नि लग रही है, जंगल में और उसी समय बड़ी तेज वर्षा हो जाय तो जंगल की आग बुझ जाती है। तो जैसे उन वर्षा करने वाले मेघों में ऐसी सामर्थ्य है कि बहुत बड़े विशाल वन की भी अग्नि शान्त हो जाती है इसी प्रकार इन योगीजनों का ऐसा प्रताप है कि कितने ही क्रूर जंतु उनके निकट में आयें तो उनका क्रोध शान्त हो जाता है। दूसरे जीव भी समझदार हैं और योगियों की शान्त मुद्रा निरखकर वे भी अपने आपमें एक नया प्रभाव उत्पन्न कर लेते हैं और वे शान्त हो जाते हैं। समताभाव रखने से धैर्य और गम्भीरता का परिणाम रखने से जीव को कष्ट का मुकाबला नहीं करना पड़ता और रागद्वेष में जो बढ़ें, हठ करें, किसी की न मानें, जो विषयासक्त मन ने आर्डर दिया उस हीमें रत हो जाय ऐसी जिनकी कमजोरी हैं, रागद्वेषभाव लगा हुआ है। वे पुरुष स्वयं क्षुब्ध रहते हैं उनके निकट बसने वाला कोई कैसे शान्त हो सकेगा। जैसे करीब-करीब यह बात है कि दुःखी और मोही प्राणियों की कहानी सुनकर अधीर पुरुषों की अधीरता भरी वेदनाएँ सुन सुनकर सुनने वाले चित्त में भी वेदना जग जाती है और सुखी शान्त ज्ञानी विरक्त पुरुषों की वार्ता सुनकर सुनने वाले के चित्त में भी ज्ञान और वैराग्य का भाव जग जाता है। जैसे मनुष्यों के साथबैठे, रहे, बातें सुनें, वैसा प्रभाव होने लगता है। यहाँ तो अद्भुत समता के धनी योगी विराजे हैं तो उनके निकट जो भी प्राणी आयें वे कषायों को छोड़कर शान्त हो जाते हैं।

श्लोक-1162

भवन्त्यप्रसन्नानि कश्मलान्यपि देहिनाम्।
चेतांसि योगिसंसर्गेऽगस्त्ययोगे जलानिवत्।।1162।।

जिस तरह शरद ऋतु में अगस्त तारा का सम्पर्क होता है उसके उदय होने पर जल निर्मल हो जाता है इसी तरह समता से भरपूर योगीश्वरों की संगति होने पर जीवों के मलिन चित्त भी प्रसन्न हो जाते हैं। जैसे जब शरद ऋतु आती है तो उससे पहिले तो वर्षा ऋतु थी, उस बरसात से जगह-जगह के जल गंदे हो गए थे। जहाँ जमीन में पोखरा से होते हैं उनका पानी पीने लायक नहीं रह जाता। गंदगी, मिट्टी उनके जल में भर जाती है। ज्यों ही क्वार कार्तिक का महीना आता है तो उनका कीचड़ नीचे बैठ जाता है और वह

निर्मल हो जाता है। इसी तरह जब तक जीवों में विषयकषायों की वृत्ति बनी हुई है तब तक उनका चित्त मलिन रहता है और जैसे ही शरद ऋतु की भाँति योगीश्वरों का सम्बंध होता है तो उन पवित्र योगीश्वरों की संगति से मलिन भी मन पवित्र हो जाता है, उस मलिनता को त्याग देते हैं। संगति उच्च पुरुषों की हो तो चित्त में उच्च बात भी समाये और उस समय उसके फिर उच्च बात की ऐसी संतति बन सकती है कि अवनति में यह अग्रसर हो जायगा और खल दुष्ट अधीर विषयासक्त अज्ञानी पुरुषों की संगति से अज्ञानभरी बात ही बनेगी। तो जहाँ कुछ सोचा जाता है कि धर्म का परिणाम मन में क्यों नहीं आता? रोज धर्मसाधना भी करते, पूजा में भी समय देते, और और भी कार्य देखते, पर क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें न जगें, विशुद्ध तत्त्व की दृष्टि बनी रहे ऐसी वृत्ति क्यों नहीं जग पाती?उसका कारण यह हो सकता है कि धर्मसाधना में तो हमें थोड़ी बहुत संगति भी मिली तो थोड़े समय को मिली और दूकान, व्यापार आदिक के समय किससे बातें हो रही हैं सो तो समझ लीजिए। मोही, अज्ञानी, असभ्य, देहाती कितनी-कितनी तरह के असदाचारी लोगों से बातें होती रहती हैं उनकी संगति चलती है 10-12 घंटे और शेष समय में कुछ घर वालों का, मित्रजनों का संग चलता है, सो वे भी मोही हैं, अविवेकी हैं, तो धर्मसाधना का हमको कितना संग मिला?वह कुछ भी सा नहीं रहता। तब जहाँ हमारी संगति अधिक लगे वहाँ का समय बढ़ जाता है— यह कमी है जिस कारण से हम प्रथम आदिक गुणों में आगे नहीं बढ़ पाते। तब क्या करना चाहिए। जान बूझकर ऐसा समय निकालना चाहिए कि उन मोहियों की वार्ता में कम से कम समय लगे और सत्संगति, स्वाध्याय में अधिक समय लगे तो धर्म का प्रभाव बन सकता है। तो ऐसा भी मलिन चित्त हो वह चित्त भी योगीश्वरों के संसर्ग में निर्मल हो जाता है, अतएव साधुसंतों की संगति का अधिक से अधिक लाभ लेना चाहिए, तभी मन विशुद्ध बनेगा जिससे आत्मध्यान की बात ठहर सकेगी और मुक्ति का मार्ग मिल सकेगा।

श्लोक-1163

क्षुभ्यन्ति ग्रहयक्षकिन्नरनरास्तुष्यन्ति नाकेश्वरा:,
मुञ्चन्ति द्विपदैत्यसिंहशरभव्यालादय: क्रूरताम्।
रुग्बैरप्रतिबन्धबिभ्रमभयभ्रष्टं जगज्जायते,
स्याद्योगीन्द्रसमत्वसाध्यमथवा किं किं न सद्यो भुवि।।1163।।

समतापरिणाम से युक्त योगीश्वरों के प्रभाव से अन्य बड़े-बड़े विशिष्ट जीवों पर प्रभाव पड़ता है। वे अपने दुष्परिणामों को त्यागकर प्रसन्नता के परिणामों में रहा करते हैं, यही क्षोभ कह लीजिए। क्षोभ में दोनों बातें होती हैं— हर्ष भी और विषाद भी। कोई प्रकार की नई बात उत्पन्न होना यह बात योगीश्वरों के प्रभाव से उत्पन्न होती है तथा शत्रु दैत्य सिंह और क्रूर जानवर सर्प आदिक अपनी क्रूरता छोड देते हैं। जैसे कुछ तो अन्तर आता है ना। जब मंदिर में बैठे हों, शास्त्रसभा में हों तो परिणामों की विह्वलता में कुछ अन्तर आता है ना? स्थान का एक प्रभाव है ऐसा, इसी प्रकार संगति का भी एक अचूक प्रभाव है। क्रूर पुरुष भी अपनी क्रूरता की परिणति को त्याग देते हैं, अपने आपमें शान्त और निराकुल बन जाते हैं। तो सत्संग से ज्ञानी संतों के प्रभाव से लोग हर्षित होते हैं और क्रूर पुरुष क्रूरता को तजते हैं तथा ये जगत, राग, बैर, प्रतिषेध, विभ्रम, भय आदिक से प्रथम तो योगियों की मुद्रा दिख जाती है। न त्रिशूल हे, न शस्त्र है, न लाठी है और यहाँ तक कि उनके सिर के दाढ़ी के बाल भी बड़े नहीं होते। चार माह में केश लोच करने का नियम है, तो ऐसी उनकी मुद्रा है कि जिससे भयानकता नहींटपकती। और शस्त्र आदिक न होने से किसी मनुष्य को उनसे शंका नहीं रहती। तो उनकी मुद्रा निरखकर लोगों के भी विश्वास में शीघ्र आ जाता है, इनसे मेराअहित न होगा हित ही होगा। जैसे यह भावना भर लेते है लोग इसी प्रकार योगीश्वरों के निकट रहने वाले क्रूर भी पुरुष अपनी क्रूरता का परिणाम छोड़ देते हैं और शान्तचित्त होते हैं। इस पृथ्वी में ऐसा कौनसा कार्य है जो योगीश्वरों के समतापरिणाम में सिद्ध न हो सके साधुभाव से समस्त मनोवाञ्छित कार्य सिद्ध हो जाते हैं। इस संसार में बाहरी पदार्थों के सुधार बिगाड़ के लिए अपनी कल्पना से कितना उद्यम कर डालते हैं, मगर वे उद्यम सफल नहीं हो पाते। दूसरे जीवों के प्रति हम जो कुछ भी चाहते हैं वह कार्य नहीं बनता कि हममें राग और द्वेष भाव भरा है। यह राग न रहे, समतापरिणाम जग जाय तो यह तत्त्वज्ञानी बाहरी पदार्थ से कुछ आशा ही न रखेगा। जो कुछ आशा नहीं रखता उसके मनोवाञ्छित सब कार्य सिद्ध हो गए। जब तक इच्छा रहती है तब तक कार्य सिद्ध नहीं होते। जहाँइच्छा नष्ट हुई तहाँसभी कार्य सिद्ध हुए समझिये और जब तक इच्छा जग रही है तब तक यह ही अनुभव करता रहेगा यह प्राणी कि मेरा तो कोई कार्य बनता ही नहीं। खूब कल्पनाएँकरता, खूब श्रम करता पर मनोवाञ्छित कार्य सिद्ध नहीं हो पाते, इच्छा न रहे तो सब सिद्ध हे और इच्छा रहती हे तो सब असिद्धि-असिद्धि ही प्रतीत होती है। योगीश्वरों के समतापरिणाम के महात्म्य से मनोवाञ्छित कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

श्लोक-1164

चन्द्र:सान्द्रैविकिरति सुधामंशुभिर्जीवलोके,
भास्वानुग्रै: किरणपटलैरुच्छिन्नत्त्यन्धकारम्।

धात्री धत्ते भुवनमखिलं विश्वमेतच्च वायु,
र्यद्त्साम्याच्छमयति तथा जन्तुजातं यतीन्द्र:।।1164।।

जैसे चन्द्रमा अपनी किरणों से सघन गरजता हुआअमृत बरसाता है इस ही प्रकार समतापरिणाम के धनी योगीश्वर अपने पौरुष के द्वारा जगत में निर्भयता का अमृत बरसाते हैं। चन्द्रमा की किरणों को जो शीतल बनाता है उसको शीतलता आ ही रही है। इसी प्रकार योगीश्वरों की मुद्रा से, उनके आचरण से अपने आपमें अमृत का पान करते रहते हैं। योगीश्वरों के संसर्ग से भक्तजन अमृत तत्त्व का पान करते रहते हैं। जैसे सूर्य तीव्र किरणों के समूह को नष्ट कर देता हैइसी प्रकार यह तत्त्वज्ञानी योगीश्वर मजबूत श्रद्धा सहित तत्त्वज्ञान की किरणों से मोहरूपी समस्त अंधकार को नष्ट कर देते हैं। जैसे पृथ्वी समस्त बोझ को धारण किए हुए है फिर भी धीर गम्भीर है। इसी से इसका नाम भी क्षमा है। क्षमा नाम पृथ्वी का भी है। तो जैसे यह पृथ्वी अनेक बोझ लादने पर भी क्षमाशील है इस ही प्रकार ये योगीश्वर अनेक के उपद्रव और प्रतिकूल व्यवहार के होने पर भी वे अपने स्वरूप से विचलित नहीं होते। समतापरिणाम की अतुल महिमा है। सुख शान्ति के लिए और किसी की जरूरत नहीं है। स्वयं तत्त्वज्ञान उत्पन्न करें और अपने को रागद्वेष रहित समतापरिणाम में लगा हुआ बनायें, रागद्वेष छोडने से ही अपना भला होगा, रागद्वेष से भला न होगा। जिन्दगी गुजर रही है, रागद्वेष करते जा रहे हैं। जिन्दगी गुजर चुकती है परयह जीव उस रागद्वेष के संस्कार के कारण आगे के समय में भी वह दु:ख का बोझ उठा लेता है। समतापरिणाम का बहुत अधिक महत्त्व है। उसमें ही समस्त चमत्कार बसे हुए हैं। हमको ही इस ओरयत्न करना चाहिए कि हमारी कषायें शान्त हों और समता-अमृत का पान करके निराकुल बने रहें।

श्लोक-1165

सारङ्गी सिंहशाबं स्पृशति सुतधिया नण्दिनी व्याघ्रपोतं,
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजाङ्गम्।
वैरोण्या जन्मजातान्यपि गलितमेंदा जन्तयोऽन्ये त्यजण्ति,
श्रित्वा साम्यैकरूढ़ं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्।।1165।।

आत्मा का हित समतापरिणाम में है। मोह रागद्वेष का विकार न जगे उस समय जो ज्ञान की विशुद्ध वृत्ति बनती है, केवल ज्ञाता द्रष्टा रहता है यह स्थिति हितपूर्ण है और शेष जितने भी जमघट हैं,

समागम हैं, पोजीशन है, वैभव हैं ये सब यद्यपि गृहस्थी में चाहिए, मगर आत्मा के हित के लिए कोई सारभूत झमेला नहीं है। हाँ इतनी बात अवश्य हे कि गृहस्थी में भी एक धर्म है, साधु भी एक धर्म है। साधु धर्म साक्षात् मोक्षमार्ग है और गृहस्थ धर्म परम्पर्या मोक्षमार्ग है। साधु प्रशंसा के योग्य है, किन्तु गृहस्थ भी अपने नियम से, सदाचार से, धर्मानुराग से रहे तो वह भी प्रशंसा के योग्य है। जिस गृहस्थ को हिंसा के बचाव का ख्याल हो, झूठ न बोले, सत्यता का बर्ताव करे, किसी चीज की चोरी न करे, परस्त्री सेवन भी न करे, संसार की समस्त स्त्रियों को माँ, बहिन, पुत्री के समान निरखे, और प्राय: ऐसा होता है। जब गृहस्थ के स्वस्त्री है तो उसका चित्त स्वस्त्री में ही तृप्त हो जाता है तत्त्वज्ञानी गृहस्थ का। फिर उसे परस्त्री की वाञ्छा नहीं रहती है और परिग्रह में भी तृष्णाभाव न जगे। ऐसा अपना निर्णय बनायें कि भाग्यानुसार जो कुछ आय होती हे तो यह कर्तव्य है कि उसमें ही विभाग बना लेना कि हम इतना धर्म में, इतना पालन पोषण में, इतना और कार्यों में खर्च करें, इस प्रकार के विभाग बनाकर गुजारा करे, उसमें ही तृप्त रहे और अपना जीवन प्रभु भक्ति के लिए, साधुसेवा के लिए और आत्मा के ज्ञान ध्यान के लिए समझे, ऐसी वृत्ति जिस गृहस्थ के है वह गृहस्थ भी प्रशंसा के योग्य है, ऐसे गृहस्थ की भी देवता पूजा करते हैं। तो जितनी भी शान्ति मिलती है समतापरिणाम से मिलती है।बड़े होकर छोटे लोगों पर क्षमा कर दें, जितनी कुछ अपनी हानि सह सकते हैं उतनी सह लें और दूसरों को क्षमा कर दें, कोई इस वृत्ति से रहता है तो उस धनिक की शान्ति देख लो कितनी है, और जो पैसे-पैसे पर जान दे देता है और कड़ा बर्ताव रखता हैइसके चित्त में देखिये कितनी अशान्ति रहती है? तो वह गृहस्थ भी प्रशंसा के योग्य है जो ज्ञानी है, धीर है, उदार है, समता की झलक उसमें भी आयी है तो शान्ति समता से प्राप्त होती है। उस समता का क्या प्रभाव है? स्वयं पर तो यह प्रभाव है कि शान्ति रहा करती है। दूसरे जीवों पर क्या प्रभाव होता— सो आचार्य कहते हैं कि उन योगीश्वरों के चरणों के निकट हिरणी सिंह के बच्चे से खेलती है। उनका जो जन्मजात बैर परस्पर में था वह समाप्त हो जाता है। जिस पुरुष के निकट जाये उस प्रकार का कुछ न कुछ प्रभाव निकट जाने वाले पर पड़ता है। जहाँसमता के पुञ्ज योगीश्वर अपनी-अपनी शान्तमुद्रा में विराज रहे हैं तो उनकी शकल निरखकर ये क्रूर जीव भी अपने क्रूर भाव छोड देते हैं। ये जीव भी समझते हैं। किसी कुत्ते को ललकारें या जरा तेज आँखें निकालकर ही देखें, मुख से भी न बोलें तो वह कुत्ता गुर्राने लगता है। तो उसमें समझ है या नहीं? और कोई अपनी ठीक शान्त मुद्रा में रहे, अपने काम से काम समझता हुआ निकल जायतो कुत्ता भी उस पर उपद्रव नहीं करता। वह भी जानता है कि यह मुझ पर कषाय कर रहा है।

देखो दूसरे की कषाय दूसरे को सुहाती नहीं है। अज्ञानियों की बात कह रहे हैं। खुद के क्रोध, मान, माया, लोभ आदि तो खूब सुहा रहे हैं पर दूसरे के नहीं सुहाते हैं। जो खुद लोभ कर रहा है उसे वह लोभ बड़ा प्यारा लग रहा है और दूसरा पुरुष लोभी हो, अधिक लालच करे तो वह सहन नहीं होता, और कोई क्षमाशील हो, बड़ा नम्र सरल हो, निष्कपट हो, लोभ लालच भी न हो तो ऐसा पुरुष साधारण जनों को

भी सुहा जाता है। तो वन में ऐसे योगीश्वर विराजे हैं जिनके रागद्वेष रंच नहीं है, अपने एक विशुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा की उपासना में लग रहे हैं ऐसी विशुद्ध मुद्रा वाले साधु के समीप सिंह हिरण वगैरह भी अपना बैर छोड दें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। वे योगीश्वर जिनका कि मोह क्षीण हो गया है, कषाय मल जिनका धुल गया है ऐसा समतापरिणाम में लगे हुए योगीश्वरों के निकट हिरणी तो सिंह के बच्चे को अपने बच्चे की तरह स्पर्श करती है और गाय व्याघ्र के बच्चे को अपना पुत्र समझकर उसे दुग्ध-पान करा लेती है। यहाँ मंदिर में ऐसे चित्र भी बने हुए हैं कि एक बड़े बर्तन में सिंहनी और गाय दोनों पानी पी रहे हैं। सिंहनी का बच्चा गाय का दुग्ध चूस रहा है और गाय का बछड़ा सिंहनी का दूध चूस रहा है। तो ऐसी स्थिति उन योगीश्वरों के निकट बन जाती है जो रागद्वेष से दूर हैं, जो साम्य भाव में लीन रहते हैं, उन योगीश्वरों के समता का इतना बड़ा प्रभाव है। ये जानवर अपनी प्राकृतिक क्रूरता भी तज देते हैं। बिलाव पक्षियों का दुश्मन है लेकिन उन योगीश्वरों के चरणों के निकट बिलाव भी कोई बैठा हो तो वह हंस के बच्चे के स्नेह के वश होकर उसके साथ खेलता है। और मयूरनी भुजंग का स्पर्श करती है। सर्प का और मोर का भी बैर है। जहाँमोर बोला करते हैं वहाँ सर्प बाहर नहीं फिरा करते हैं। वे डर के कारण बिलों में ही घुसे रहते हैं, लेकिन योगीश्वरों के चरणों के निकट बिलाव भी हँस के बालक से स्नेह करते हैं ये सब क्रूर जानवर योगीश्वरों के चरणों के निकट आकर अपने मद को दूर कर देते हैं और क्रूरता, बैर भाव, दुश्मनी ये सब उनके नष्ट हो जाते हैं। योगीश्वरों की समता का इतना उच्च प्रभाव है।

श्लोक-1166

एक: पूजा रचयति नर: पारिजातप्रसूनै:,
क्रुद्ध: कण्ठे क्षिपति भुजंग हन्तुकामस्ततोऽन्य:।
तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्यं स योगी,
साम्यारामं विशति परमज्ञानदत्तावकाशम्।।1166।।

जिन मुनियों की ऐसी वृत्ति है कि चाहे कोई उनकी पूजा रच रहा हो चाहे कोई क्रुद्ध होकर कंठ में सर्प डाल रहा हो लेकिन उन योगीश्वरों के दोनों के प्रति समता का व्यवहार रहता है। यह सब ज्ञान का प्रताप है। कषाय करने से क्लेश ही उत्पन्न होता है। कषाय का अर्थ ही यह हे कि जो आत्मा को कसे अर्थात् दु:ख दे।जिसके मोह अज्ञान नहीं रहा, इस देह को भी अपना स्वरूप नहीं समझता, जिसका यह दृढ़ निर्णय है कि इस देह से भी न्यारा चैतन्यस्वरूप में आत्मा हूँ, इस मुझ आत्मा को न कोई छेद सकता, न भेद सकता, न

जला सकता। मानो कोई इस शरीर को छेद भेद भी रहा है, प्राण भी ले रहा है तो ज्ञानी पुरुष यह समझता है कि इसमें तो मेरा कोई बिगाड़नहीं हो रहा। अरे मेरा यह आत्मा यहाँ न रहा, न सही। किसी और जगह पहुँच गया तो इससे मेरा क्या बिगाड़? मरण समय में कष्ट तो उन्हें होता है जिनको यहाँ के समागमों में ममता है और उनको मरण समय में कष्ट नहीं होता जिन्हें यहाँ के समागमों में ममता नहीं है। मरण समय की बात तो जाने दो, जिस पदार्थ में भी ममता है उसके नष्ट हो जाने पर, घाटा हो जाने पर अथवा कुछ बिगाड़हो जाने पर ये जीव बड़ा क्लेश मचाते हैं और मरण समय में यह विकल्प बना रहता है कि लो सारा का सारा वैभव, परिजन सभी एक साथ छूटे जा रहे हैं, इस बात का बड़ा क्लेश होताहै। और योगीश्वरों को न इस शरीर से ममता है, न यहाँ के किसी अन्य साधनों सेममता है, न उन्हें अपने भक्तों से ममता है, जिनका केवल आत्मस्वरूप की साधना में ही उपयोग रमता है ऐसे महापुरुषों को मरण के समय में कोई कष्ट नहीं है। जिसको जिस जगह से ममता नहीं है उसे यदि कोई उस जगह से हटा दे तो वह तुरन्त वहाँ से चला जाता है, उस जगह पर ठहरने के लिए वह विवाद नहीं करता। तो चूँकि साधुजनों के ममता और अहंकार नहीं रहा इस कारण ऐसी समता प्रकट हुई है कि कोई पुरुष तो उनकी पूजा कर रहा है और कोई पुरुष क्रुद्ध होकर उनको मारपीट रहा है, फिर भी दोनों में जिनकी समान वृत्ति रहती है ऐसे योगीश्वर कहाँ रहते हैं, कहाँविचरते हैं? समता के बगीचे में। जहाँउत्कृष्ट ज्ञान का अवकाश दिया है अथवा उत्कृष्ट ज्ञान जहाँप्रकट हुआ है ऐसे समता के उपवन में उनका निवास है और विहार है, ऐसे समता के जो धनी है वे ही पुरुष उत्कृष्ट आत्मध्यान करते हैं जिसके प्रसाद से उन्हें मुक्ति की प्राप्ति होती है। गृहस्थ भी वास्तव में सही वही है जिसके चित्त में यह बात बसी रहती हो कि हे नाथ ! परम इष्ट तो साधु मार्ग है। मैं कब साधुता ग्रहण कर लूँ ऐसी तीव्र वाञ्छा रहती हो उसका नाम है गृहस्थ, श्रावक, उपासक। चाहता वह ऐसा नहीं है कि में इस ही भव में मुनि हो जाऊँगा। कुछ समझ रहा है कि आजकल समय बड़ा कठिन लग रहा, शरीर का संघनन भी बड़ा कमजोर मालूम पड़ता और उसकी उम्मीद में नहीं है कि मैं अपनी इस जिन्दगी में साधु बन सकूँगा, फिर भी भीतर में लालसा यह लगी है कि ये सब विकल्प विडम्बनाएँ, चिन्ताएँ और दूसरों के श्रम सब बेकार बातें हैं। मेरी स्थिति तो साधुता की बने, निर्ग्रन्थ दिगम्बर की बने, कपड़ों की भी चिन्ता नहीं, केवल आत्मा की ही उपासना में निरन्तर रहा करूँ ऐसी मन में इच्छा सद्गृहस्थ के रहा ही करती है। न हो सके इस भव में तो अच्छा है, अरे अगले भव में होवेगा, पर उद्धार होगा तो इस ही मार्ग में होगा, ऐसा सद्गृहस्थ के दृढ़ निर्णय रहा करता है। वे योगीश्वर कैसा समता के पुञ्ज हैं कि कोई तो उनकी पूजा रच रहा है और कोई बसूला से चमड़ी छील रहा है, फिर भी दोनों में समान बुद्धि रहती है। अंदाज कर लीजिए कि कितनी उत्कृष्ट उनके समता है।

नोऽरव्यान्नगरं न मित्रमहिताल्लोष्टान्न जाम्बूनदं,
न स्रग्दाम भुजङ्गमान्न दृषदस्तल्पं शशाङ्कोज्ज्वलम्।

श्लोक-1167

यस्यान्तकरणे बिभर्ति कलया नोत्कृष्टतामीषद–
व्यार्यास्तं परमोपशान्तपदवीमारूढमाचक्षते।।1167।।

जिस योगी के मन में वन से नगर, शत्रु से मित्र, पत्थर से स्वर्ण, रस्सी या सर्प से पुष्पजाल, पाषाण शिला से चन्द्र समान उज्ज्वल शय्या आदिक पदार्थ अंत:करण में किञ्चित मात्र भी भले, उत्कृष्ट, बड़े नहीं दिखतेउस ही मुनि को सत् पुरुष यह कहते हैं कि यह मुनि उपशान्त पदवी को प्राप्त हुआ है। जो वन से नगर में आराम की चीजें हैं। वन में तो कष्ट है, कहाँबैठना, उठना, सोना, कितना भयानक जंगल है, इसमें क्रूर जंतु रहते हैं। नगर बड़े आराम की जगह है, ठंड गर्मी का बचाव है, सारे साधन निकट हैं यों जिनके मन में नहीं आता और वन से नगर को उत्कृष्ट नहीं मानते, दोनों को एक प्रकार समान समझते हैं और कदाचित् नगर से वन को अच्छा समझते हैं ऐसे ही मुनि उपशान्त भाव को प्राप्त होते हैं। देखिये जीव पर सबसे बड़ी विपदा है विकल्पों की, आत्महित के मंच पर यह बात कही जा रही है। इस समय यह कुछ ध्यान न देना कि वाह परिवार का खर्च कैसे चलेगा, उसकी बात नहीं कही जा रही, यह तो आत्महित का जो एक मार्ग है उसकी बात कही जा रही है। उसे गृहस्थ थोड़ा धारण कर पाते, योगी पूर्ण धारण कर पाते, और फिर यह भी एक निर्णय है कि गृहस्थी का पालन कोई एक पुरुष नहीं कर रहा, बल्कि कमाने वाले से अधिक पुण्य घर के उन लोगों का है जो बैठे रहते, मौज करते और काम वाले से ज्यादा भोगोपभोग भोगते हैं। कमाने वाला कहाँशान से रह पाता, सादा खाना, सादा रहना, सादे कपड़े पहिनना, यही रहता है, खुद को ढंग से नहीं रख सकते। जब व्यापार आदिक में लग रहे हैं तो वही जो कुछ मिल गया खा लिया, कमाने वाला शौक शान से कहाँरहता है? और जो घर के लोग स्त्री पुत्र वगैरह हैं वे कितना शान से मौज से रहते हैं। अब जरा यह बतावो कि उस कमाने वाले का पुण्य अच्छा है या घर में रहने वालों का पुण्य अच्छा है? पुण्य तो घर में रहने वाले उन चार जीवों का ही अच्छा है जिन्हें कमाना नहीं पड़ता, श्रम नहीं करना पड़ता। यह एक दिल पलटने के लिए बात कही जा रही है।यथार्थ क्या है इसको कोई तराजू से तौलकर नहीं कहा जा रहा है, पर जो मोटे रूप से देखने में बात आयी वह कही जा रही है। ऐसा जानकर में किसी को पालता पोषता हूँ इस अहंकार को छोड देना चाहिए। केवल इस शिक्षा के लिए बात कहा है। हम किसी को कमाकर खिलाते है ऐसा कहना सही नहीं है। इसे यों बोलिये कि जिनके काम में यह सम्पदा आ रही है उनके पुण्य के उदय से कमाई में निमित्त बन रहा हैं। कर्तृत्वबुद्धि की भाषा में आप अपने को न निरखिये। ये

मुनिजन वन से नगर को उत्कृष्ट नहीं मानते, शत्रु से मित्र को उत्कृष्ट नहीं मानते, अर्थात् दोनों ही एक समान जीव हैं। दोनों के ज्ञाता द्रष्टा रहते हैं। यह बात गृहस्थी में होना तो जरा मुश्किल है, पर जो केवल आत्मकल्याण पर ही तुल गया है वह तो वही कार्य करेगा जिसमें आत्महित हो, कल्याण में बाधा न आये, और वह उपाय है समता का। वह शत्रु और मित्र को एक समान समझता है। पत्थर पड़ा है और स्वर्ण पड़ा है, पत्थर से स्वर्ण को उत्कृष्ट नहीं मानते। देखिये आशय की बात है— चाहे यह जान रहा हैवह कि यह डला तो एक दो आने का है और यह डला लाख रुपये का है, है तो है मगर खुद के लिए तो दोनों एक समान हैं। लोहे से स्वर्ण की उत्कृष्टता नहीं देता। ऐसे योगीश्वर परम शान्त दशा को प्राप्त होते हैं। रस्सी या सर्प है और एक ओरफूलों की माला है तो रस्सी से फूल माला में उत्कृष्टता न देंगे। दोनों ही पदार्थ हैं, यह भी है, रस्सी भी है, सर्प भी है।जिनको केवल आत्महित की धुन लग गयी उनको इन बाह्य बातों में यह उत्कृष्ट है ऐसा ख्याल नहीं जगता है, उसके लिए तो सब समान हैं। जिन्होंने बाह्य वस्तुवों से अपना हित नहीं माना, लगाव तोड़ दिया उसके लिए तो वे सब बराबर हैं। पाषाणशिला और एक शय्या में उनके लिए कोई भेद नहीं है। पाषाणशिला के आगे वे कोमल शय्या की उत्कृष्टता नहीं मानते। अच्छा यह तो मुनियों की बात है। जब कभी गृहस्थ को कोई बड़ी ठोकर लगती है जिससे फिर संसार में उसे और कुछ नहीं सूझता है उस तक को भी पलंग और शय्या नहीं रुचते हैं। पड़ा रहता है जमीन पर, जमीन से शय्या को वह उत्कृष्ट नहीं मानता, क्योंकि उसके चित्त में एक बहुत बड़ी चोट लगी है, उसी ओरख्याल है, शरीर के आराम के साधनों पर दृष्टि नहीं है। जब यहाँ तक मूढ़पुरुष की बात बन जाती तो भला जो एक सहज ज्ञायक स्वरूप है, जो आत्मतत्त्व की धुन में है उसे तो परमार्थ पंथ दिखता है, वह यह भाव न करेगा कि शय्या अच्छी है और पाषाणशिला जघन्य है। तो जिसका चित्त इन बाह्य वस्तुवों से मुग्ध नहीं होता ऐसे योगीश्वर ही परमशान्त दशा को प्राप्त होते हैं। उनके उत्कृष्ट ध्यान जगता है जिसके प्रताप से सदा के लिए संकटों का विनाश कर लेता है।

सौद्योत्यङ्गे श्मशाने स्तुतिशयनविद्यौ कर्दमे कुङ्कुमे वा,
पल्यङ्के कष्टकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्मचीनांसुकेषु।

श्लोक-1168

शीर्णाङ्के दिव्यनार्यामसमशमवशाद्यस्य चित्तं विकल्पै–
र्नालौढं साऽयमेक: कलयपि कुशल: साम्यलीलाबिलासम्।।1168।।

जिन योगियों का मन लोकव्यवहारियों द्वारा माने गए इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में विकल्पित नहीं होता वे ही योगीश्वर समता की लीला के विलास का अनुभव करते हैं।इस समतापरिणाम की वृत्ति की लीला का वे ही आनन्द पाते हैं जिन योगियों का मन शिखर में श्मशान में और बड़े-बड़े महलों में और मरघट में यह विकल्प नहीं मचाते कि हमें महल में इष्ट है और मरघट में अनिष्ट है। जिसके जिस बात की लगन होती है उसे तो वह चाहिए। योगी को आत्मा के स्वरूप के दर्शन करने की और उस ही ज्ञान में मग्न होने का आनन्द लूटने की धुन लगी है। वह बात जिनके नहीं प्रकट हुई उनका कैसे चित्त लगेगा? यदि विकल्प उठे तो श्मशान की उत्कृष्टता देंगे, महल की उत्कृष्टता न देंगे और फिर ऊँची बात तो यह है कि महल और श्मशान में दोनों में समता रहे। जिस पुरुष के दोनों में समता रह सकती है, उसकी परख यह हे कि वह रहा करे मरघट में, जंगल में, एकान्त में, यों कहने से बात नहीं बनती। शास्त्र में तो कुछ दुहाई देते कि योगीश्वरों को क्या है, महल और जंगल एक समान हैं। महल में रहें तो क्या, जंगल में रहें तो क्या? हम महलों में रह रहे हैं तो समान दृष्टि करके रह रहे हैं यह बात जमती नहीं है। ऐसे समतापरिणाम वालों की वृत्ति एकाकी वन में, श्मशान में ऐसे-ऐसे स्थानों में रहने की है। कदाचित् रहना भी पड़े नगरों में भी तो जहाँतक सम्भव है कुछ ध्यान योग्य, धार्मिक वातावरण योग्य कोई एकान्त स्थान का बने तो वहाँ भी रहते हैं किन्तु उनका चित्त सन्तुष्ट नहीं होता। जिनको ज्ञानस्वरूप के अनुभवन में लालसा है, ज्ञान-ज्ञान के स्वरूप को जानता रहे बस यही तो अनुभव की स्थिति है। ऐसी स्थिति की जिन्हें धन है उन पुरुषों का मन निर्जन स्थान में लग पाता है। खैर रहें वे मरघट में, जंगल में तब भी कहा यह जायगा कि उनकी दोनों में समान बुद्धि है। लौकिक जन महलों की शिखर पसंद करते हैं उनके मुकाबले में कुछ समता की बात कही जायगी, और कदाचित् यह भी कह दें कि उनको महल अनिष्ट है और श्मशान जंगल, वन ये इष्ट हैं और इससे ऊँची स्थिति बनने पर उनके श्मशान, वन की सुध नहीं रहती है। ऐसी निर्विकल्प स्थिति बनती है, एक समता कह दीजिए तो बात बहुत उपयुक्त है।

जिस योगी का चित्त निज सहज शुद्ध ज्ञायकस्वभाव काअनुभवन उमड़ा है वह स्तुति में और निन्दा में अपने मन को विकल्पित नहीं करता। कितना विशिष्ट आत्मबल है कि कोई निन्दा भी कर रहा है किन्तु वह अपने विशुद्ध ज्ञानस्वरूप को निरख रहा है इसके निकट ही रहकर तृप्त हो रहा है और उसके लिए यह बात स्पष्ट है। जैसे कहीं बाहर के दृश्य देख रहे हैं— वह देखो अमुक पहाड़ से, अमुक जगह से नदी निकली, अमुक जगह वह नदी गिरी तो इस बात के जानने में क्या विकल्प? ऐसे ही ज्ञानी पुरुषों को कोई उनकी निन्दा करे अथवा प्रशंसा करे तो उससे उनको क्या विकल्प? निन्दक और प्रशंसक दोनों ही उनकी दृष्टि में समान है। न निन्दा करने वाले पर विरोध का भाव लाते हैं और न प्रशंसा करने वाले पर स्नेह का भाव लाते हैं, ऐसा ही योगियों के समतापरिणाम का जो विशुद्ध फल है, आत्मीय आनन्द है ऐसे अमृत का पान किया करते हैं। ये योगीश्वर कीचड़ में और केसर में समान बुद्धि रखते हैं। लोग मानते हैं ना कि केसर

कीमती चीज है और बड़े-बड़े उपचारों में काम आती है और केसर भी तो एक तरह का कीचड़ सा बन जाता है। उसे पानी में घोले इसलिए केसर के साथ मुकाबले में कीचड़ रख दिया। उनकी केसर और कीचड़ में समान वृद्धि रहती है। समतापरिणाम के अभ्यासी योगीश्वर शय्या और काँटे के अग्रभाग के कटीली जमीन में अथवा काँटायुक्त पृथ्वी में समानता बर्तते हैं। जब तक मूल बात समझ में न आयगी तब तक यह विश्वास न हो पायगा कि उन योगीश्वरों को शय्या और जमीन या जो-जो और बातें अभी कही गई हैं उनमें समतापरिणाम रहता है।

जैसे बंध्या स्त्री प्रसव करने वाली स्त्री का क्या ज्ञान कर सकती है?वह तो यों ही समझती होगी कि यह इतरा रही है। जो तकलीफ प्रसव के समय में मिलती है उसको बंध्या स्त्री क्या अनुभव कर सकती है? ऐसे ही मोहीजन जिनकी जगत के समागमों में इष्ट अनिष्ट की बुद्धि लग रही है वे ज्ञानी की इस अन्तरवृत्ति को क्या समझ सकें कि उनको श्मशान और महल एक समान नजर आते हैं? अंदाजा करने वाले की उसके अनुरूप कुछ परख हो, कुछ ज्ञानदृष्टि हो तो बड़े की वृत्ति का भी अंदाजा कर सकते हैं, पर मोह में, तद्विषयक ज्ञान रंच भी नहींहोता और न वैराग्य की जरा सी उमंग भी होती। तो ज्ञानियों की चर्चा का वह अंदाजा नहीं कर सकता। ये योगीश्वर पत्थर में और चन्द्रकान्तमणि में लोह और रत्न में समतापरिणाम रखते हैं। विकल्पों से स्पर्शित नहीं हैं। चित्त उनका विकल्पित नहीं होता। उन्हें रत्न की वाञ्छा हो तो विकल्प हों। कुछ चाहिए ही नहीं उन्हें। केवल एक ही अभिलाषा है। मेरा यह ज्ञानस्वरूप प्रभु मेरी दृष्टि में अधिकाधिक रहा करे। जैसी चाह है उसके अनुकूल ही चेष्टा होगी। अब अंदाजा कर लीजिए चक्रवर्ती 6 खण्ड के वैभव का स्वामी और किसे कहा जाय? चक्रवर्ती का वैभव तो भौतिकता की दृष्टि से बड़ा है और तीर्थंकर का वैभव इज्जत की दृष्टि से बड़ा है, इसके वैभव से बढ़कर किसका बताया जाय, पर ये चक्री और तीर्थंकर भी इस वैभव से तृप्त नहीं हुए। इसे त्यागकर एक विशुद्ध ज्ञायकस्वभाव के दर्शन में उन्हें तृप्ति बनी। तब आप समझिये कि इस स्वाधीन निज सहज स्वभाव के अनुभवन की कीमत कितनी है? तीन लोकों की सारी सम्पदा से भी बढ़कर उनमें उपमा के लिए कुछ है ही नहीं दुनिया में। इतना महान वैभव है ज्ञानानुभूति। इसकी जिसे उमंग है वह रत्न को क्या रत्न समझेगा? वह यों यही समझेगा कि यह रत्न भी उन रूप,रस, गंध, स्पर्श आदि के पाषाणों की तरह है। ऐसे समतापरिणाम वाले योगीश्वर ही आत्मीय सत्य आनन्दामृत का पान करते हैं। ये योगीश्वर चर्म में औरचीन देश के बने रेशम में तथा अनेक प्रकार के और-और आवरणों में किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं किया करते हैं। इसी से उनके किसी को भी ग्रहण करने का भाव नहीं है, फिर भी मुकाबले की दो चार चीजें बताकर समता की बात कही जा रही है। इन योगीश्वरों के चित्त में क्षीण शरीर उनमें, सुन्दर स्त्री आदिक का रूप इनमें भी मन विकल्पित नहीं होता है। देखिये दृष्टि के अनुसार वासना वृत्तियाँ चलती हैं। जिनको निज शुद्ध ज्ञानस्वरूप के अनुभव में उमंग जगी है उसे इसके अतिरिक्त जो ये सब कुछ विषय साधन हों अथवा रूप हों ये सब नि:सार जँचते हैं। जैसे जब चित्त नहीं रहता है घर

के किसी पुरुष में तो उसका आकार फिर सरस नहीं जँचता, क्योंकि खुद में उससे राग हटा हुआ है ना, ऐसे ही इन योगीश्वरों को अपने ज्ञानानुभव में उमंग है अतएव ये सब शरीर अपवित्र असार धोखा भरे जँचते हैं। तो उन योगीश्वरों के क्षीण शरीर में जिनके न रूप रहा, न मुद्रा रही और जो हृष्ट–पुष्ट सुन्दर शरीर हैं उनमें मन विकल्पों से स्पर्शित नहीं होता। ऐसे प्रवीण मुनि समतापरिणाम में लीला के विनाश का अनुभव करते हैं। देखिये जो बात इन योगीश्वरों के लिए कही जा रही है उनके आचरण पूर्ण अथवा अधिकाधिक आ रही है। लेकिन वे सब बातें ज्ञानी सद्गृहस्थ के भी किसी अंश तक आना चाहिए और प्रतीति में, श्रद्धा में तो इतनी ही दृढता होनी चाहिए जितनी कि योगिराजों को है। कल्याण का मार्ग एक ही प्रकार का है और वह यही है पर से विमुख होना और अपने आत्मा में उन्मुख होना। ऐसे योगीश्वर अतुल्य शान्ति प्राप्त करते हैंऔर समतापरिणाम की लीला का विलास किया करते हैं।

श्लोक-1169

चलत्यचलमालेयं कदाचिद्दैवयोगत:।
नोपसर्गैरपि स्वान्तं मुनै: साम्यप्रतिष्ठितम्।।1169।।

कदाचित् दैवयोग से चलित हो जाय, पर मुनि का समतापरिणाम से भरा हुआ मन उपसर्गों से भी चलित नहीं होता। आदिनाथ स्तवन में कहा है कि हे नाथ ! यदि आपका मन देवों की देवियों से भी चलायमान नहीं होता तो इसमें आश्चर्य क्या है? हम तो यह भी देखते हैं कि ये बड़े-बड़े मेरू पर्वत आदिक कितनी ही प्रलय काल जैसी आयु चले तो उससे भी हमने इनको चलायमान नहीं देखा तो आपका मन यदि उन देवांगनाओं से चलित नहीं होता तो इसमें आश्चर्य क्या है? मोही जीवों को अन्तर में ऐसा ही अज्ञान और मोह का भाव बना होता है जिससे प्रेरित होकर अविवेकी बनकर केवल दिखने मात्र का सुन्दर शरीर, किन्तु नीचे से ऊपर तक राध, रुधिर, मल, हड्डी, खून, चर्म, पसीना इन सबसे अपवित्र रहता है और सार का इसमें कहीं नाम भी नहीं। ऐसा असार शरीर भी मोही जनों को मोह में अज्ञानवश इष्ट जँचाकरता है। ज्ञानी को तो वह प्रसंग एक आफतसा जँचता और एकदम सीधा सा असार दिखता रहता है तो इतना मन दृढ़ रहता है जिसको तत्त्वज्ञान बहुत-बहुत अभ्यास बढ़ गया है कि कदाचित् भी उपसर्गों से भी मन चलित नहीं होता। श्रद्धा उनकी नहीं बदलती और पर में विषयसाधन में उनका आकर्षण नहीं बनता। चाहे ये पर्वत चलित हो जाय, टूट जायें पर योगी का मन उपसर्गों से चलित नहीं हो सकता। समतापरिणाम की महिमा

कही जा रही है। ध्यान का एकमात्र साधन साम्यभाव है और इससे ही ऐसा निर्विकल्प ध्यान बनता है कि कर्मों का क्षय होकर अनन्त आनन्द की प्राप्ति इस ही उपाय से होता है।

श्लोक-1170

उन्मत्तमथ विभ्रान्तं दिग्मूढं सुप्तमेव वा।
साम्यस्थस्य जगत्सर्व योगिन: प्रतिभासेत।।1170।।

समतापरिणाम में स्थित मुनि को वह जंगल ऐसा जँचता है कि मानो वह जगत उन्मत्त है या विक्रयरूप हे या दिग्मूढ़ है अथवा रीता है। जिसने अपने आपमें समता का स्वभाव लिया हो, केवल ज्ञानमात्र तत्त्व का अनुभव किया है वह बाहर में भी जीवों को देखेगा तो उनमें भी यही निश्चल चित्स्वरूप नजर आयगा। पीछे कुछ सोचेगा तो यह बात आयगी क्या कि यह यह है, ऐसी पर्याय है, अमुक का अमुक है? जैसे ज्ञान के कम अभ्यासियों को सबसे पहिले ये मायामय शरीर मुद्रायें पर्यायें नजर आती हैं फिर कुछ तो चित्त चलायें, ज्ञान की ओर ले जायें तो श्रम से फिर उन सबका अंत: जो मर्म है, चैतन्य स्वरूप है उसकी दृष्टि जाती है। जैसे कोई पुरुष दोष देखने की आदत वाला है तो जिस किसी को भी वह देखेगा तो वह उसमें दोष ही पायगा और पीछे कोशिश करने पर फिर गुणों की भी बात कुछ समझ सकेगा। और जिसे गुण देखने की आदत हे वह दूसरे को देखकर सर्वप्रथम आनन्द से सहज ही विलासपूर्वक गुण देखेगा, पीछे कोशिश करने पर, श्रम से विचार करने पर फिर दोष भी हों तो समझ में आयेंगे। ऐसे ही ज्ञान के कम अभ्यासी जनों को जगत के इन जीवों में एकदम साफ तौर से यह भाव ही नजर आयगा, यह मनुष्य है, पशु है, पक्षी है, अमुक जाति का है, अमुक जगह का है। पीछे कोशिश करने पर फिर उनका जो वास्तविक मूलरूप है उसमें दृष्टि बड़े श्रम से पहुँच सकती है और अभ्यासी जनों को विश्व के इन समस्त जीवों में सीधे ही एक चैतन्यस्वरूप दृष्टि में आता है, पीछे फिर सोचने पर पर्याय भेद ये सब भी ज्ञान में आ सकते हैं। ज्ञान का ऐसा अभ्यासी पुरुष उसको यह जगत कैसा नजर आता है? उसकी बात इस छन्द में कही जा रही है। समतापरिणाम में स्थित योगी को यों भासता है कि मानो यह जगत पागल है। तत्त्व तो कुछ है, आनन्द तो निकट है, आनन्द तो स्वरूप है, पर उस ओर दृष्टि नहीं दे रहा यह जीवलोक। और बाहर-बाहर ही दृष्टि देकर अपने आपको पागल बनाये जा रहा है। निकट ही क्या? वहाँ दृष्टि ही न दे और बाहर ही बाहर उपयोग दृष्टि चलित हो रही है यों वह पागल दिखता है। इसी से मिला जुला वह भी दर्शन होता है उन जीवों में अथवा ये सब विकृतरूप हैं, अब कुछ थोड़ी सी इज्जत की है। जैसे किसी पुरुष के बारे में यह कहें कि

भाई इसका क्या अपराध है? इसको जरा भ्रम हो गया है तो भ्रम का नाम लेने से कुछ ऐसा नजर आता हे कि कुछ इसकी महिमा बढ़ायी है। बजाय पागल कहने के विक्रय रूप कह दिया जाय तो कुछ इसकी इज्जत है अथवा यह दिशाशूल हो गयी है लेकिन कुछ इज्जत और बढ़ा दी है। विक्रय में जितना भ्रान्ति का दोष है दिशाशूल में उतना दोष नहीं माना जाता। लो थोड़ी और इज्जत बढ़ा दी है। मानो यह विश्व सो रहा है लेकिन अचल चैतन्यस्वरूप में दर्शन के मुकाबले ये सब विरुद्ध ही वृत्तियाँ बतायी जा रही हैं। ज्ञान और समता के अभ्यासी योगी को यह विश्व इस प्रकार भासता है, क्योंकि उनमें भी हमने अपने ही समान विशुद्ध चित्स्वभाव का अवगम किया है।

श्लोक-1171

वाचस्पतिरपि ब्रूते यद्यजस्रं समाहितः।
बक्तुं तथापि शक्नोति न हि साम्यस्य वैभवम्।।1171।।

समतापरिणाम का कितना महत्त्व है? इस वैभव की बात को यदि वाचस्पति भी कहना चाहे तो कह नहीं सकता। वाचस्पति का अर्थ है वचनों का मानना। जिसका वचनों पर पूर्ण अधिकार है ऐसा वाचस्पति महेन्द्र अथवा अन्य-अन्य महापुरुष ऋषि योगीश्वर भी समतापरिणाम के वैभव को वचनों से नहीं कह सकता। उसका अनुभव चाहे कर लें योगीजन पर उसको बता नहीं सकते। जैसे अनेक पकवान मिठाई होती हैं, उन्हें आप खाकर अनुभव तो कर लेंगे कि इसमें कैसा स्वाद है, क्या रस है, पर आपसे पूछें कि बतावो तो सही कि कैसा स्वाद है तो आप बता न सकेंगे। अच्छा इतना तो पता ही हे कि अरहर की दाल और मूंग की दाल के स्वाद में अन्तर है। पर आप उनके स्वाद को वचनों से नहीं बता सकते। तो जब आप छोटी-छोटी बातों को अनुभव भी वचनों से नहीं बता सकते तो समता के अनुभव की बात तो दूर रही। इस ही समतापरिणाम के अनुभव से योगीजन संसारके संकटों का, कर्मों का छेदन करते हैं। इससे ही विशुद्ध ज्ञान बनता है और ध्यान के प्रताप से सदा के लिए यह अनन्त आनन्दमय बन जाता है। जो आनन्द निज ब्रह्मस्वरूप के दर्शन में है वह आनन्द विषयसाधनों में नहीं है। पर से स्नेह करके पर के आधीन बन करके कोई आनन्द पा सकता है क्या? केवल कल्पना की मौज है। दु:खमयी जिन्दगी से जीते जायें वह क्या जिन्दगी है? किसी भी समय ऐसा तो अपने आत्मस्वरूप का ध्यान होना चाहिए कि यहाँ कोई दु:ख नहीं है, कोई चिन्ता नहीं है। चाहे बाहर में कुछ भी गुजरो। जहाँऐसा तत्त्वज्ञान जगा है वहाँ ऐसा समताभाव प्रकट होता है जिसके अनुभव से वह अनन्त आनन्द का अनुभव कर लेगा, पर वचनों से कोई कह नहीं सकता।

श्लोक-1172

दुष्प्रज्ञाबललुप्तवस्तुनिचया विज्ञानशून्याशया,
विद्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोदिता देहिनः।
आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मानलं,
ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते सन्ति द्वित्रा यदि।।1172।।

कहते हैं कि ऐसे प्राणी तो घर-घर मिलेंगे जो अज्ञान के बल से, वस्तु के स्वरूप के सम्बंध में कुछ भी नहीं जानते हैं। ऐसे जीव तो घर-घर हैं जो अज्ञान से ग्रस्त हैं, वस्तुस्वरूप का जिन्हें कुछ भान नहीं है। ज्ञानविज्ञान से सूने हैं, अपने-अपने स्वार्थ में लगे हुए हैं, जिनको जो विषयसाधन इष्ट हुआ वे उस ही साधन में लगे हुए हैं ऐसे प्राणी घर-घर में मौजूद हैं, किन्तु ऐसे प्राणी कदाचित् दो तीन ही मिलेंगे जो आनन्दरूपी अमृत के कणों से इस जन्मरूपी अग्नि को बुझा देते हैं और मोक्षमार्ग में बढ़ते जाते हैं। जो समता के अधिकारी है, किसी भी अन्य पदार्थ में मोह भाव नहीं लाते हैं ऐसे पुरुष बिरले ही मिलेंगे। यों समतापरिणाम के प्रकरण में समता का वर्णन किया। अब इसके बाद में ध्यान का वर्णन करते हैं।

श्लोक-1173

साम्यश्रीर्नातिनिःशङ्कं सतामपि हृदि स्थितिम्।
धत्ते सुनिश्चलध्यानसुधासम्बन्धवर्जिते।।1173।।

संत पुरुषों का हृदय यदि भली प्रकार निश्चलध्यानरूपी अमृत के सम्बन्ध से रहित हो तो उनमें समतारूपी लक्ष्मी निःशंकता से अपनी स्थिति नहीं बना सकती। कितना ही उदारचित्त हो, अनेक गुण हों फिर भी जिनके चित्त में ध्यान साधना की बात नहीं है उनको समता नहीं जग सकती है। देखिये समता के अभ्यास के लिए जहाँऔर-और अनेक उपाय करते हैं वहाँ यह एक भी उपाय करें अथवा जैसे जाप सामायिक में प्रभुभजन, जाप स्तवन, तत्त्वचिन्तन आदि किया करते हैं वहाँ कुछ ऐसा भी यत्न करें कि लो हमें न कुछ अच्छा सोचना है, न कुछ बुरा सोचना है। संसारी प्राणियों के बारे में न तो सोचना है और न भगवान के बारे में सोचना है। अपने मन को सोचने की ओरसे ऐसा शून्य बना दें उस काल में जो सहज

बात होना चाहिए, जिसमें कोई त्रुटि सम्भव नहीं है वह अनुभव जगेगा। कुछ जानबूझकर विकल्प मचाकर तत्त्व की बात सोचने में त्रुटि हो सकती है। हम समझते हैं कि यह ठीक है, पर न भी हो ठीक ऐसा भी हो सकता है। प्रमाण के लिए सर्वत्र इतनी बात देख लें कि जो-जो भी धर्मसाधना का, संन्यास का, समाधि का आचरण करते हैं अथवा बतलाते हैं वे सभी के सभी बात ही बात में हटाये जाते हैं। सभी अपने-अपने मजहब को ठीक समझकर उसी के गुण गाते हैं पर उसमें अपनी त्रुटि नहीं समझ पाते। जो पुरुष अपने मन को शान्त बनायेगा, अपने मन को रोके देगा, किसी का विचार न करेगा, ऐसे पुरुष के हृदय में जो एक अनुभव होना, जो एक अन्तर्वृत्ति होगी, वह एक विलक्षण होगी। जान बूझकर विकल्प करके धर्म का वर्णन करेंगे तो वे सब भिन्न-भिन्न बातें हुई। मन को शान्त करके कोई विकल्प न उठाकर अपने आपमें जो जानकारी बनती है सहज उसका अनुभव होने पर एक तो मार्ग दर्शन होता, आनन्द का उपाय यही है और समतापरिणाम भी उसके जागृत होता है इस ही स्थिति में रहना सो कल्याण का मार्ग है। जहाँइष्ट अनिष्ट कोई भी विकल्प नहीं होते।तो यों चित्त को स्तब्ध करें, विषयों में जाने से रोके, किसी भी वस्तु का चिन्तन न करें तो अपने आप आत्मा में विशुद्ध ज्ञानज्योति का अनुभव होता है।

श्लोक-1174

यस्य ध्यानं सुनिष्कम्पं समत्वं तस्य निश्चलम्।
नालयोर्विद्धयधिष्ठानमन्योऽन्यं स्याद्विभेदत:।।1174।।

जिस पुरुष का ध्यान निश्चल हैउसका साम्यभाव भी निश्चल है और ध्यान व समता का परस्पर भेद नहीं है तो ध्यान का आधार सम्भाव है और समता का आधार ध्यान है। जहाँ समता है वहाँ ध्यान जगता है जहाँध्यान विशुद्ध होता है वहाँ सम्भाव प्रकट होता है। तो जिसके निश्चल ध्यान है उसके ही समता की सिद्धि होती है। जैसा लोग सोचते हैं सुख शान्ति के लिए कि अमुक काम कर लें, धन संचय कर लें, अपना नाम बना लें तो उससे सुख शान्ति मिलेगीपर यह तो उनका केवल स्वप्न है। बजाय इसके ऐसी उत्सुकता जगना चाहिए कि मैं अपने आपमें कितनी अधिक समता प्रकट कर सकता हूँ? जितनी मुझमें समता बनेगी उतना ही आनन्द मिलेगा, विश्राम मिलेगा, संकटों से मुक्ति होगी। तो जैसे लौकिक जनों को धन की तृष्णा लगी हुई है ऐसे ही ज्ञानी जनों को एक समताभाव की तृष्णा जगती है। तृष्णा क्या? यह भावना बनती हे कि मेरे में समता प्रकट हो और वे निहारते हैं कि मुझमें समता कितनी आयी है, मैं कितने समागम को निरखकर ज्ञाताद्रष्टा रह सकता हूँ? लोक में सार का कहीं नाम नहीं है। किसी भी समागम में क्या है

समागम? अनन्तानन्त जीवों में से कोई दो एक जीव आ गए समागम में तो वे क्या हित कर देंगे? हित तो दूर रहो, उनमें स्नेह जगेगा तो हम ही उनके आराम के साधन बनाने के लिए श्रम किया करेंगे दूसरों से मिलता कुछ नहीं है। मानो लखपति हो गए, करोड़पति हो गए, बड़ा धनसंचय कर लिया तो अन्त में होगा क्या? उसे छोड़कर जाना ही पड़ेगा? लाभ कुछ नहीं है इन बाह्य समागमों से, यह पूर्ण सुनिश्चित बात है, लेकिन जब मोह बसा हुआ है तब तो अपने आपको परेशान ही कर डालेंगे। है वहाँ कुछ नहीं, ये सभी स्वप्नवत् बातें हैं। जैसे स्वप्न में जो कुछ दिखता हैवह स्वप्न के समय में सही प्रतीत होता है पर सही कुछ नहीं है। जहाँ नींद खुली तहाँ वहाँ कुछ नहीं ऐसे ही इन आँखों के देखते हुये की स्थिति में भी जो-जो भी समागम प्राप्त हैं उनमें सार कुछ नहीं है। केवल कल्पनाएँजगा-जगाकर अपने आपको परेशान किया जा रहा है। स्मरण तब होगा जब तत्त्वज्ञान जगेगा या उन प्राप्त समागमों का विछोह होगा। फिर किसके लिए इस अपने मन को परेशानी में डाला जाय? आत्मस्वरूप को निरखिये और खूब धर्मपालन कीजिए। धर्मपालन ही एक सार है। धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी श्रम विकल्प हितरूप नहीं है। समतापरिणाम के जगाने का उद्यम करना चाहिए।

श्लोक-1175

साम्यमेव न सद्धयानात्स्थिरीभवति केवलम्।
शुद्धयत्यपि च कर्मोघकलङ्की यन्त्रवाहकः।।75।।

प्रशस्त ध्यान से केवल समता का परिणाम ही स्थिर नहीं होता, किन्तु कर्मों से मलिन यह यंत्रवाहक जीव भी शुद्ध हो जाता है, समता भी जगती है, ध्यान के प्रताप से सिद्ध भी हो जाते हैं। कैसी अपने आपके भीतर गति है? क्षण में कुछ चिन्तन, क्षण में कुछ।क्षण में दुःख का पहाड़ इसे दिखता है और क्षण में दुःख का कहीं नाम नहीं है ऐसा अनुभव करने लगता है। बाहर में दृष्टि की कि दुःख का पहाड़ दिखने लगता है और जहाँ अन्तर्दृष्टि की वहाँ फिर कोई संकट नहीं जँचता। वैराग्य में शान्ति का उद्भव है और राग में अशान्ति का उद्भव है। तो तत्त्वज्ञान चाहिए, और जो अपने आपके स्वरूप का स्वयं में निर्णय होता है उसका विशुद्ध ध्यान चाहिए। चाहिए तो यह और लौकिक जन चाहते हैं कि हमें मकान चाहिए, दूकान चाहिए, पूँजी चाहिए, नाम चाहिए, नेतागिरि चाहिए। ये सब मोह निद्रा के स्वप्न हैं। चाहिए तो इसे सिर्फ समता, तत्त्वज्ञान, वैराग्य, सो कुछ चीज नहीं चाही जा रही है। किन्तु जो कुछ परभाव आये हैं, गड़बड़ी आयी है, उपाधि लगी हैं उनका वियोग चाहिए। मुझमें मैं ही रहूँ, अन्य कुछ परभाव मेरे में न आयें, यह बात चाहने योग्य है। अन्य

चीजों की चाह करना इस जगत में उचित नहीं है। चाह से होता कुछ भी नहीं है। तो ध्यान के प्रताप से समताभाव भी आता है और यह कलंकित आत्मा शुद्ध भी हो जाता है। यह शरीररूप में रहकर अशुद्ध है। आत्मा तो अमूर्त ज्ञानमात्र निर्लेप है और दशा यह बन रही हे कि शरीरों में बंधा-बंधा फिर रहा है। इस आत्मा से यह शरीर छूट ही नहीं रहा है। और छूट भी जाय कभी तो यह सूक्ष्म शरीर नहीं छूटता है, इस स्थूल शरीर के उत्पादक कर्म नहीं छूटते हैं। इन शरीरों से छुट्टी तत्त्वज्ञान और ध्यान के प्रताप से ही मिल सकती है।

श्लोक-1176

यदैव संयमी साक्षात्समत्वमवलम्बते।
स्यात्तदैव परं ध्यानं तस्य कर्मौधघातकम्।।1176।।

जिस समय संयमी पुरुष योगी महात्मा साक्षात् समतापरिणाम का अवलम्बन करते हैंतो उनके उस समय ऐसा ध्यान प्रकट होता है जो कर्मों के समूह का विनाश कर दे। लोक में भी तो जिनको समता की प्रकृति पड़ी है, इष्ट अनिष्ट बातों को टाल देने की जिनकी धुन बनी है वे लौकिक पुरुष भी समता के कारण सुखी रहा करते हैं। कोई गुंडा नीच दुष्ट कुछ ऐब करता है, निन्दा करता है तो उसका उपाय क्या सोचता है तत्त्वज्ञानी कि उसकी उपेक्षा कर दे। न उसमें राग रखे, न द्वेष रखे, तो उपेक्षा कर देना यह एक तत्त्वज्ञानी का उपाय है, और उस ही उपेक्षा भाव से आत्मा उन्नति के पथ पर पहुँचता है। तो यहाँ भी समता ने मदद दिया। हमारे जीवन में अनेक प्रसंग आया करते हैं। उन सब प्रसंगों में विजय उनकी होती है जिनका चित्त उदार है और जो समतापरिणाम में रहते हैं। तो जिस ही समय योगी समतापरिणाम का अवलम्बन लेता है उस ही समय इसके ऐसा अनुपम ध्यान प्रकट होता है जो भव-भव के बाँधे हुए कर्म भी दूर हो जाते हैं। कर्मसिद्धान्त पर विश्वास रखते हैं ज्ञानीजीव। जो कम्र किया, जो कर्म बाँधा उसका फल भोगा जायगा, भोगना पड़ेगा। हाँ कदाचित् ऐसा तत्त्वज्ञान और वैराग्य जग जाय जो बाँधे हुए कर्मों के फल को भी बदल दे, यदि ऐसा कोई उच्च पुरुषार्थ बने तो ये बाँधे हुए कर्म टल सकते हैं। अन्यथा ज्यों के त्यों कर्मों का फल भोगना पड़ता है। अत: ऐसा उद्यम हो कि कर्मबन्धन न हो। अपने स्वरूप से बाहर जितने भी जो कुछ पदार्थ हैं उनमें राग अथवा द्वेष उत्पन्न न हो, इससे बढ़कर और कोई कमाई नहीं है। आज जो लोग आराम में रहकर बहुत-बहुत वैभव के भी धनी बन जाते हैं वह सब पूर्वकृत धर्म का ही तो प्रसाद है। धर्म सब दिशावों में अच्छा ही फल देता है। धर्म के प्रताप से परलोक में भी सुख होता और इस जीवन में भी सुख रहता

है।तत्त्वज्ञानी जैसा का तैसा जानता है। जो रागद्वेष भाव नहीं करता, उसके समता प्रकट होती है।बस इस समता के प्रताप से ऐसा ध्यान बनता है कि भव-भव के बाँधे हुए कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। हम सबका कर्तव्य है कि तत्त्वज्ञानी हों, विरक्त हों और अपने आपके प्रभु के निकट अधिक काल रहा करें, इससे ही हम आप सबका कल्याण प्रकट होगा।

श्लोक-1177

अनादिविभ्रमोद्भूतं रागादितिमिरं धनम्।
स्फुटयत्याशु जीवस्य ध्यानार्क: प्रविजृम्भित:।।1177।।

इस जीव को जितने भी क्लेश हैं वे राग से हैं। किसी भी स्थिति में किसी भी प्राणी को निरख लो राग ही उसका दु:ख है, और राग है व्यर्थ का। वैसे लगता है ऐसा कि इस बिना काम नहीं चलता तो यह राग करना ही चाहिए। यह तो अपनी ही वस्तु है, पर निश्चय से देखो तो मेरे आत्मा का तो केवल मेरा आत्मद्रव्य है, आत्मस्वरूप है जो कि ज्ञान और आनन्दमय है, अमूर्तिक है इतना ही मात्र मैं हूँ और जो कुछ इसमें शक्ति है परिणमन है वही मेरी शक्ति है और परिणति है, इसके अतिरिक्त बाहर में अन्य कुछ तो मेरा नहीं है। सभी के मन में कोई न कोई कल्पनाएँ बनी हुई हैं और उन कल्पनाओं से क्लेश भोगते रहते हैं। तो वह राग अंधकार कहलाता है। उसे अंधेरे में अपना शरीर भी नहीं दिखता है ऐसे ही रागभाव में अपने आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं रहता है। इस कारण राग को अंधेर खाता कहा है। जितना जो कुछ किया जा रहा है रागवश वे सब व्यर्थ की बातें हैं।कह रहे हैं उदय है, ऐसी परिस्थिति है किन्तु हे सब व्यर्थ की बात, उससे आत्मा का लाभ कुछ नहीं है। यह अँधेरा इस जीव पर लगा क्यों है? अनादि काल से इसके भ्रम बना हुआ है, अज्ञान बना हुआ है, अपने आपके स्वरूप का भान नहीं हो सका है, मैं आत्मा हूँ, ज्ञानानन्द स्वरूप, सर्व से विविक्त ज्ञानानन्द स्वभावी अमूर्त आत्मा हूँ, जो कुछ करता हूँ सो अपने आपके ही प्रदेशों में करता हूँ, और में करता ही क्या हूँ। पदार्थों का स्वभाव ही ऐसा है कि वह प्रति समय परिणमन करता रहेगा,मैं भी पदार्थ हूँ अतएव मेरा परिणमन होता रहता है, करता भी क्या हूँ? करने की बात तो इसलिए लगा देते हैं कि यह आत्मा इच्छा किया करता है और ऐसा विकल्प रखता है कि में अमुक पदार्थ को करता हूँ, अमुक को कर दूँगा, पर करने की इसमें क्या बात? जैसे ये जड़ पदार्थ शीर्ण होते हैं, फूटते हैं, पुराने होते हैं, सड़ते हैं तो क्या ये कुछ करते हैं? अरे इसमें कुछ करने की बात तो है ही नहीं। करने का शब्द तो अज्ञान में बना है। चूँकि अज्ञानी जीव करने की बात किया करता है तो यह कहने की रूढ़ि चल उठी है कि आत्मा ज्ञान

करता है? अरे आत्मा तो स्वयं ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानस्वभावी है। उसका स्वभाव है अपने आपमें प्रति समय परिणमते रहने का, सो यह आत्मा परिणमता रहता है। जगत के सभी पदार्थ अपने आपमें परिणमते रहते हैं। किसी की बदल चाहे समान हो और किसी की असमान हो पर बदलते सब रहते हैं। सिद्ध भगवान हैं वे बदलने का कुछ पता तो नहीं दे सकते। जैसे यहाँ संसारी लोग हैं इनकी बदल बता सकते हैं, अब यों भाव रखने लगा, अभी तक पाप में था अब धर्म में आ गया, अभी तक सुख में थाअब दु:ख में आ गया। यों असंख्याते तरह की बदल हुआ करती है किन्तु सिद्ध में क्या बदल है? जो सारे विश्व को एक साथ ज्ञान से जाने, दूसरे समय में भी सारे विश्व को ज्ञान से जाने। अनन्त काल तक विश्व को जाने, इसी तरह उसमें क्या बदल है, लेकिन वे समान-समान बदलते रहते हैं।

जैसे एक मनुष्य 20 सेर का बोझ हाथ में लेकर खड़ा हुआ है और इसी तरह से वह 10 मिनट तक खड़ा रहे तो दिखने में तो ऐसा लगता है कि यह कोई नया काम तो नहीं कर रहा है, यह तो 10 मिनट से वैसा का ही वैसा खड़ा है— पर ऐसी बात नहीं है, वह प्रत्येक सेकेण्ड में नया-नया काम कर रहा है, क्योंकि ताकत उसकी नई-नई लग रही है और उसे श्रम भी हो रहा है। तो जैसे दिखने में भले ही आये कि यह पुरुष वही-वही काम कर रहा है पर उसमें बदल चल रही है। अब दूसरा काम कर रहा है, अब तीसरा काम कर रहा है। ऐसे ही प्रभु भगवान सारे विश्व को जानते रहते हैं और वैसा ही अब जाना, ऐसे ही अब अगले समय में जानेंगे। तो यद्यपि एक सा जानना चल रहा है लेकिन प्रति समय में तो जानना चल रहा है वह भी तो कार्य है, ज्ञान शक्ति का परिणमन है। जैसे बिजली जल रही है, 10 मिनट से तो लगता है कि वह तो वही का वही काम 10 मिनट से कर रही है, कोई नया काम नहीं कर रही है पर ऐसी बात नहीं है। वह प्रति सेकेण्ड में नया-नया काम कर रही है। तो चाहे समानपरिणमन हो, चाहे असमानपरिणमन हो पर वहाँ बदल चलती रहती है। तो हमारा काम है निरन्तर परिणमते रहने का सो परिणमन कर रहे हैं। हम कर नहीं रहे हैं, हो रहा है ऐसा तत्त्वज्ञानी जीव अपने आपमें निरख रहा है। यह मैं हूँऔर परिणमता रहता हूँ, इससे आगे मेरी दुनिया नहीं, मेरा घर नहीं, मेरा कोई स्वामी नहीं, सब मोहजाल की बात है, ऐसा निर्णय जिस पुरुष के चित्त में समाया हुआ है वह पुरुष राग अंधकार को दूर कर सकता है और ध्यान का सूर्य ऐसा उदित होता है कि उसके कारण राग अंधकार फटक नहीं सकता। देखिये सब कुछ अपने आपकी भलाई का काम अपने आपमें ही मिलेगा। सर्व सुख, सर्व आनन्द, कल्याण समृद्धि, जो भी अभीष्ट है, जो भी उत्कृष्ट बात है वह सब कुछ अपने आपमें अकेले में मिलेगा। दूसरे पदार्थों की दृष्टि, आशा, इच्छा, आकर्षण, स्नेह ये सब अंधकार हैं और इनमें अपने आपकी सुध नहीं रह पाती है। उसका फल है क्लेश। यदि क्लेश न चाहिए तो कुछ क्षण तो ऐसा चिन्तन करें कि मैं केवल अपने आपमें आप ही स्वयं हूँऔर निरन्तर परिणमता हूँ। ऐसा ज्ञान बनते ही उसमें ध्यान के अंकुर बन जाते हैं और जब ध्यानरूपी सूर्य उदित होता है अर्थात् एकाग्रचित्त

होकर आत्मा के स्वरूप का ही ध्यान रहता है तो फिर भ्रम के कारण बना हुआ यह जो राग अंधकार है वह दूर हो जाता है।

श्लोक-1178

भवज्वलनसम्भूतमहादाहप्रशान्तये।
शश्र्वद्धयानाम्बुधेर्धीरैरवगाहः प्रशस्यते।।1178।।

संसाररूपी अग्नि से उत्पन्न हुआ जो महान आताप है उसकी शान्ति के लिए जो बड़े तत्त्वज्ञानी धीर वीर पुरुष हैं वे ध्यानरूपी समुद्र का अवगाहन किया करते हैं और इस ही की योगीश्वरों ने प्रशंसा की है। जैसे कोई सूर्य की प्रखर किरणों से अथवा अग्नि के निकट रहने से बहुत तेज आताप हो गया हो तो उसे शान्त करने के लिए समुद्र का स्नान किया करते हैं, लोग सरोवर में स्नान करते हैं इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी जीव इस संसार के भ्रमण से संसारवासना से उत्पन्न हुआ जो महान संताप में अग्नि है, कष्ट का आताप है उसका शमन करने के लिए वे ध्यानरूपी समुद्र में स्नान करते हैं। लोक में भी कहते हैं कि मन के हारे हार है मन के जीते जीत। दु:ख है कहाँ? मन को सम्हाला दु:ख दूर हुआ। मन को न सम्हाल सके, विषयों में मन चलित हुआ, लो वहाँ कष्ट हो गया। तो यह सब ध्यान के आश्रित है। ध्यान से ही पीड़ा है, ध्यान से ही मधुरता है, ध्यान से ही धर्मसाधन होता है और ध्यान से ही समतापरिणाम जगता है। तो संसार परिणाम के संताप को शान्त करने के लिए तत्त्वज्ञानी पुरुष ध्यान के समुद्र में नहाया करते हैं। कहीं भी हो कैसा भी कष्ट हो, ध्यान जरा अपने आत्मा की ओर कर लिया जाय कि दु:ख मिट गए। दु:ख यों मिट जाता है कि दु:ख वास्तव में था नहीं। एक उस तरफ दृष्टि लग गयी तो वह दु:ख मानने लगा। वह दृष्टि हटी कि दु:ख दूर हो गया। कल्पना से कष्ट माना था, कल्पना मिटी तो कष्ट मिट गया। तो वे सब अभीष्ट कल्याण की बातें एक विशुद्ध ध्यान द्वारा सिद्ध होती हैं। जैसे लोक में अपनी जिन्दगी में प्रोग्राम बना करते हैं, अमुक काम करना है, चलो कुछ बढ़े चलो, पर कुछ गम्भीरता से विचारों तो सही कि यहाँ कौनसा प्रोग्राम ऐसा है तो इस भव में भी शान्ति दे सके और अगले भव में भी शान्ति दे सके। ऐसा प्रोग्राम है, चलो आत्मस्वरूप का ज्ञान करें, अपने आपके निकट रहा करें, इतनी ही चर्या में उत्सुकता रहे। यों आत्मज्ञान का प्रोग्राम हो, आत्मदृष्टि आत्मधुन का प्रोग्राम हो जीवन में तो यह लाभकारी व्यापार है और आत्मा की धुन न हो तो कितना ही कोई बाहरी-बाहरी कार्य कर ले उससे शान्ति प्राप्त नहीं होती। शान्ति का हिसाब यदि लौकिक वैभव से लगता होता तो इस वैभव को बड़े-बड़े चक्रवर्ती तीर्थंकर आदि क्यों त्याग देते? इस लौकिक वैभव में उन्हें कुछ सार

नहीं दिखा इस कारण वे उसे छोड देते हैं और गरीब से भी गरीब बन जाते हैं। न कपड़ा, न घर, न परिवार, न कुछ रखना, ऊपरी हालत देखो तो बतावो साधुवों से ज्यादा गरीब और कौन है? लेकिन ऐसे-ऐसे वैभव वाले पुरुष जब वैभव को त्याग देते हैं तभी शान्ति पाते हैं और अब वे गरीब नहीं कहलाते, वे लोक में सबसे उत्कृष्ट अमीर हैं, क्योंकि आनन्द और शान्ति का उनको विधान मिला हुआ है।

श्लोक-1179

ध्यानमेवापवर्गस्य मुख्यमेकं निबन्धनम्।
तदेव दुरितव्रातगुरुकक्षहुताशानम्।।1179।।

विशुद्ध ध्यान ही मोक्ष का एक प्रधान कारण है और वह शुक्ल ध्यान रागद्वेष रहित ध्यान पापों के महा वन को जलाने के लिए अग्नि की कड़िका के समान है। जैसे वन बहुत बड़े विस्तार वाला है, कोसों का लम्बा चौड़ा है फिर भी उस विशाल वन को जलाने में समर्थ एक अग्नि की कड़िका है, ऐसे ही पापों का बहुत बड़ा विस्तार है, एक बहुत बड़ा पापों का बोझ लदा हुआ है, भव-भव के पाप इकट्ठा हैं, ऐसा पापों का समूह महा वन की तरह बहुत विस्तार को लिए हुए है, और विशुद्ध ध्यान शुक्लध्यानरूपी अग्नि कितनी है? किस तरह है? एक अपने आत्मा के केन्द्र में है और वह भी विस्तार बनाकर नहीं, किन्तु संकोच का, मग्नता का स्वभाव लेकर है। तो यह ध्यान अग्नि एक केन्द्र में मग्न है, उसमें इतनी सामर्थ्य है कि महाविस्तार वाले पापों के वनसमूह को नष्ट करने में समर्थ एक ध्यानरूपी अग्नि की कड़िका है।

श्लोक-1180

अपास्य खण्डविज्ञानरसिकां पापवासनाम्।
असद्धयानानि चोदेयं ध्यानं मुक्तिप्रसाधकम्।।1180।।

हे आत्मन् ! खण्ड-खण्ड विज्ञान में रस बनाने वाली जो पाप की वासना है उसको दूर करो और जो असतध्यान हैं उन्हें दूर करो, और मुक्ति का साधनभूत जो उत्कृष्ट आत्मध्यान है उसे अंगीकार करो। देखिये पाप की वासना खण्डज्ञान से सम्बंध रखती है। जब उपयोग विकृत होता है तो वह उपयोग जहाँ लगा है, जिसमें रुचि है, जिसकी वासना बनी है उसका ही तो ज्ञान करेंगे और उसका भी अंशमात्र ज्ञान करेंगे। तो पाप की वासना जब रहती है तब खण्डज्ञान होता है और यह पाप बुद्धि खण्डज्ञान को ही पसंद करती है। तो ऐसी बुद्धि को तजो जिसमें किसी एक पदार्थ पर किसी-किसी विकृष्ट पदार्थ में हम अपना उपयोग फँसायें, बिगाड़ें, इष्ट अनिष्ट बुद्धि करें, रागद्वेष की वृत्ति बनायें। वह तो कल्याण की चीज नहीं है। खण्ड ज्ञान के रसिक मत बनो, अखण्ड ज्ञान चाहो, अखण्ड ज्ञान तो परिणमन की दृष्टि से प्रभु का है। समस्त विश्व को, लोकालोक को जानने वाले हैं प्रभु। तो प्रभु का ज्ञान अखण्ड है, क्योंकि समस्त को जान लिया। समस्त को जाना तो वहाँ खण्ड नहीं रहा, टुकड़ा नहीं रहा। एक तो अखण्ड ज्ञान मिलेगा प्रभु में और एक अखण्ड ज्ञान की झाँकी मिलेगी आत्मानुभव में, निज में। सर्वविकल्पों को छोड़कर केवल एक आत्मा के सहज ज्ञायक स्वरूप में ही चित्त लीन हो जाय तो वहाँ भी अखण्डता रहती है। तो अखण्ड ज्ञान की झाँकी है आत्मानुभव। या तो अखण्ड ज्ञान बनेगा, किसी को मत सोचें, जिनका टुकड़ा नहीं है, या वीतराग सर्वज्ञ हो जाय, निर्दोष हो, कर्मरहित हो तो उसका ज्ञान अखण्ड बनता है। पापवासना में अखण्डज्ञान कोई सा भी नहीं बनता, न आत्मानुभवन का ज्ञान बनता है और न सर्वज्ञता का ज्ञान बनता है, क्योंकि पापवासना खण्डज्ञान को ही पसंद करती है। अन्यथा पापों की इच्छा ही नहीं हो सकती। किसी थोड़ी जगह में, एक दो पुरुषों में, किसी एक निश्चित विभूति में रुचि बनती है तभी तो पाप की वासना बना करती है। तो पाप की वासना है तो खण्डज्ञान ही यह जीव करेगा। न आत्मानुभव करेगा और न सर्वज्ञता मिलेगी।

खण्डज्ञान का मोह तजें। कुछ आ गया ज्ञान में 10-20 बातें कह लो, हम उस ज्ञान को भी नहीं चाहते। हमें किसी का भी परिज्ञान न चाहिए, सब ज्ञान बंद हो जायें, सब चिन्तन समाप्त हो मन पावे विश्राम, फिर जो हो सो हो, पर मुझे खण्डज्ञान न चाहिए। मेरा तो आत्मानुभव बने जिसमें अखण्ड ज्ञान है। धर्म अखण्ड ज्ञान का आश्रय लेता है। खण्डज्ञान के रसिक को पाप की वासना बनती है। जो इस खण्ड ज्ञान को छोड देते हैं उनको ध्यान की सिद्धि होती है। इस ध्यान से मुक्ति की प्राप्ति होती है। मुक्ति का अर्थ है छुटकारा प्राप्त करना। जो है सो वही मात्र अकेला रह जाना इसका ही नाम मुक्ति है। केवल रह जाना, अकिश्चन हो जाना, कोई सम्बंध न रहना, सब औपाधिक भाव दूर हो जाना इसी का नाम है मुक्ति। यही योगीश्वरों का महान ध्येय तत्त्व है। तो पहिले विश्वास तो रखें कि मैं आत्मा स्वत: केवल ही हूँ, मुझमें किसी दूसरे पदार्थ का सम्बंध नहीं है, ऐसा अपने आपका अनुभव कीजिए तो इन कल्पनाओं की जब रसिकता बनेगी तब समझिये कि वह धर्मभावना दृढता से बन गयी है और जब बाहरी पदार्थों में ही हमारी इच्छा रहेगी अथवा पसंदगी रहेगी तो उससे तो पाप की वासना ही बनेगी। उसे छोड़ें और मुक्ति को सिद्ध करने

वाला जो ज्ञान है अर्थात् अपने को केवल अनुभवना और इस ही में मग्न होना, यह यत्न ही मुक्ति को सिद्ध करने वाला है और पूछो तो धर्म उतना ही है। मंदिर में जाकर ढोलक झाँझ बजाना यही मात्र धर्म नहीं है। अपने आपको सब पदार्थों से निराला केवल ज्ञानस्वरूप अनुभव कर सके तो समझिये कि हमने धर्मपालन किया। यह बात एक बिल्कुल सारभूत कही जा रही है। इसी का नाम धर्मपालन है। यह बात चाहे जंगल में कर ले, चाहे मंदिर में। यहाँ बाह्य में क्षोभ मचाने से कुछ भी न मिलेगा। यदि अन्तर में अपने आपके कल्याण की दृष्टि नहीं जगती है तो कुछ भी नहीं है।

श्लोक-1181

अहो कैश्चिन्महामूढैरज्ञै: स्वपरवञ्चकै:।
ध्यानान्यपि प्रणीतानि श्वभ्रपाताय केवलम्।।1181।।

अहो ! आश्चर्य के साथ कहा जा रहा है कि अज्ञानी मोही, मूढ़ अज्ञानी पुरुषों ने जो कि अपने आपको भी ठग रहे हैं और पर को भी ठगते हैं उन्होंने ध्यान भी ऐसा किया जो केवल नरक में अपने आपको ढकेले। ध्यान बिना कोई नहीं है। सब जीवों में ध्यान बनता है पर किसी के खण्डज्ञान है तो किसी के अच्छा ज्ञान है। जो अज्ञानी पुरुष हैं, मोह के वशीभूत हैं, उनके खण्डध्यान जगता, आर्त रौद्र ध्यान बनता। रौद्रध्यान में तो यह जीव क्रूरता करके मौज मानता है, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापकार्यों में मौज मानता है और आर्तध्यान में कुछ पीड़ा होने पर तो प्रभु की कुछ खबर रहेगी, पर सांसारिक मौजों में प्रभु की खबर नहीं रहती। ध्यान ही है सिर्फ इस जीव के पास। ध्यान से ही यह जीव नरक में पहुँचता, ध्यान से ही संसार के आवागमन से छुटकारा प्राप्त करता। जब ध्यान से ही सब कुछ प्राप्त होता है तो विशुद्ध ध्यान ही करना चाहिए ना। जैसे बालक लोग पंगत का खेल खेलते हैं। कुछ पत्ते बालकों के सामने रखते गए और कहते गए कि लो यह रोटी, कुछ कंकड बालकों के सामने रखते गए और कहते गए कि लो ये चने। अरे जब कल्पना करके ही कहना है तो चना और रोटी कहकर क्यों परोसते? पत्तों को पूड़ी कचौड़ी कहकर परोंसे और कंकड़ों को बूँदी कहकर परोंसे। ऐसे ही जब ध्यान से ही अपना हित अहित प्राप्त होता है तो क्यों न अपना विशुद्ध ध्यान बनायें? तब यों समझिये कि अखण्ड भावना से ही सर्व कुछ सिद्धि है और खण्ड भावना से कुछ भी सिद्धि न होगी।

श्लोक-1182

विषायतेऽमृतं यत्र ज्ञानं मोहायतेऽथवा।
ध्यानं श्र्वभ्रायते कष्टं नृणां चित्रं विचेष्टितम्।।1182।।

यह खेद की बात है कि अमृत तो विष की तरह लगे, इसी प्रकार यह भी खेद की बात है कि ज्ञान मोह बढ़ाने के लिए बन जाय और ध्यान नरक के लिए हो जाय, ऐसी विपरीत चेष्टा आश्चर्य उत्पन्न करने वाली है। अमृत भी विष बन जाय अथवा कोई अमृत को विष बना ले तो यह उसके लिए खेद की बात है। ज्ञान को कोई मोह के लिए बना ले, जैसे कीड़ा-मकोड़ों में कितना ज्ञान है और पशुपक्षियों को उनसे विशेष है और मनुष्य को सबसे विशेष है, सो तेज मोह मनुष्य कर सकता है। पशु-पक्षी भी इतना तीव्र मोह नहीं कर सकते। वैसे अज्ञानरूप है ठीक है मगर तीव्र मोह मनुष्य कर पाते हैं क्योंकि उनके ज्ञान होता है। वह ज्ञान इस ढंग से ढाते हैं कि मोह बढ़ाते हैं। ये पशु मकान नहीं बनवाते, सभा नहीं जोड़ते, वे अधिक मोह क्या करेंगे? अज्ञानरूप परिणाम है, सो मोह है, यह बात जुदा-जुदा है, पर जान जानकर मोह बढ़ाया सो मनुष्य बढ़ा सके, पशु-पक्षी नहीं बढ़ा सकते, कीड़े-मकोड़े नहीं बढ़ा सकते। तो यह खेद की बात है कि जो ज्ञानमोह दूर करने के लिए होना चाहिए सो मोह बढ़ाने के लिए बन बैठा, इसी प्रकार ध्यान होता है मोक्ष की प्राप्ति के लिए। स्वर्ग मोक्ष या कर्म उत्तम भव में उत्पन्न होना उसके लिए है ध्यान, पर कोई ध्यान को नरक के लिए बना लेता है। रौद्र ध्यान करे, खोटा ध्यान करे, पापमय भावना रखे तो नरक जायगा वह। तो ध्यान जो कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए है उसे ही कोई नरक जाने के लिए बना ले तो यह खेद की बात है। शिक्षा इसमें यह दी गयी है कि भाई अमृत पाया है तो उसे विषवत् बना डाले तो यह तो एक साधारण सी बात है। कोई खोटा मेल कर दे, कोई योग्य देश काल का सम्पर्क बना दे, इसी प्रकार ज्ञान को मोह में ढा देना भी आसान बात नहीं है। मनुष्य में साहित्यिक कलायें भी हैं। एक दूसरे से प्रेम करे उसके लिए कितनी तरह के वचनालाप हैं, कितनी तरह के बोलचाल हैं, इतना विलक्षण वाचनालय पशुवों में कहाँ है? वे मोह करते हैं पर यों ही मूढ़ता पूर्ण करते हैं। और यह मनुष्य बड़ी चतुराई से मोह करता है। तो इस मनुष्य ने ज्ञान को मोह का साधन बनाया, मोक्ष का नहीं बनाया, यह भूल है। इसी तरह ध्यान एकाग्र चित्त होने का नाम ध्यान है। किसी भी विषय में एक चित्त बन जाय वही ध्यान कहलाता। अब किसी शुभ विषय में, अच्छे विषय में एकाग्र चित्त बने तो वह स्वर्ग और मोक्ष के लिए है, और खोटे पाप के लिए, विषयों के लिए क्रोध, मान, माया, लोभ जिसमें बढ़े, क्रूरता बढ़े, लोभ लालच बढ़े ऐसा ध्यान बनेगा तो वह ध्यान नरक के लिए होता है। सो यह खेद की बात है कि जो ध्यान मोक्ष का साधनभूत बनना चाहिए था, सो बन गया है नरक के लिए।

श्लोक-1183

अभिचारपरैः कैश्चित्कामक्रोधादिवञ्चतैः।
भोगार्थमरिघातार्थं क्रियते ध्यानमुद्धतैः।।1183।।

कितने ही लोग जो विचार वृत्ति वाले हैं, कोई किसी के वश में करने के लिए मंत्र सिद्ध करना चाहते, कोई अंजन ऐसा सिद्ध करते कि जिसे आँख में लगा लें तो दूसरे को शरीर न दिखे और फिर चोरी करना, अनेक कौतूहल आदिक विचारों में जो तत्पर रहा करते हैं ऐसे पुरुष अथवा जो काम क्रोध आदिक से ठगाये गए हैं ऐसे मूढ़पुरुष भोगों के लिए और शत्रुवों के घात के लिए ध्यान किया करते हैं। कितने ही क्रूर लोग ऐसे हैं कि कोई साधना करेंगे तो दूसरों के ठगने के लिए दूसरों का नाश करने के लिए। दूसरों के घात करने का ही विधिविधान बनाया करते हैं लेकिन उससे बचने का उपाय बिल्कुल अमोघ है। वह अमोघ उपाय है णमोकार मंत्र का विशुद्ध ध्यान। णमोकार मंत्र का विशुद्ध ध्यान हो तो किसी के द्वारा भी कराया गया मंत्र टल सकता है। यों ही पढ़ देने से नहीं किन्तु श्रद्धापूर्वक विशुद्ध ध्यान किया जाय तो मंत्र टल सकता है। णमोकार मंत्र का बड़ा माहात्म्य है। इस णमोकार मंत्र से कितने ही लोगों ने पूर्वकाल में बड़े-बड़े काम सिद्ध किये, और छोटी बातों में तो अब भी लोग अनुभव करते हैं कि अमुक विपदा पड़ी, इन पंचपरमेष्ठियों का ध्यान किया लो विपदा टल गयी। अनेक प्रसंग ऐसे होते हैं। सो मूढ़जन काम, क्रोध आदिक के वशीभूत होकर जो ध्यान किया करते हैं वह उद्दण्ड भोगों के लिए या दूसरों के घात के लिए, जिन्हें अनिष्ट समझा है, दुश्मन समझा है उनके विनाश के लिए किया करते। बतावो कितना बड़ा अज्ञान है कि क्या करना चाहिए था मनुष्यभव में और क्या-क्या कर लिया जाता है?

श्लोक-1184

ख्यातिपूजाभिभानार्तैः कैश्चिच्चोक्तानि सूरिभिः।
पापाभिचारकर्माणि क्रूरशास्त्राण्यनेकधा।।1184।।

ख्याति, पूजा, अभिलाषा इनसे पीड़ित हुए अनेक पुरुषों ने पाप कार्यों की विधि वाले अनेक शास्त्र रच डाले हैं सो वह बड़ा पाप है। एक ही ढंग के वीतरागता के ही पोषक शास्त्र क्यों नहीं मिलते? कोई राग

में धर्म बतलाते हैं, कोई यज्ञ में, हवन में, पशुघात में धर्म बतलाते हैं। अनेक प्रकार के पापकार्यों की शिक्षा देने वाले जो ग्रन्थ रचे हैं वे ऐसे लोगों द्वारा रचे गए हैं जो काम क्रोध आदिक भावों से पीड़ित थे, जिन्हें ख्याति, पूजा, लाभ, अभिलाषायें, कषायें रुचती रहें, उनसे अनेक प्रकार के पापकार्यों की साधना बनी। कोई समय था ऐसा जबकि कुछ लोगों की धर्मात्मा के रूप में बड़ी मान्यता थी। और लोग ब्राह्मणवर्ग को बहुत पूज्यता की दृष्टि से निरखते थे, और थे भी वे पूज्य, जब कि वे ब्राह्मण ज्ञानी थे, तत्त्वज्ञानी थे, तो पूज्यता की रूढ़ि बराबर चली आयी। अब कुछ चित्त में अनेक बातें आने लगी। जैसे आजकल लोग मांसभक्षण के रुचिया बहुत हो गए हैं। जहाँ देखो वहाँ ही 100-200 लोगों में बिरला ही व्यक्ति ऐसा मिलेगा जो मांस न खाता हो। जब मांस खाने की उन लोगों में इच्छा बढ़ी तो सोचा कि यों खाने से तो लोक में हमारी निन्दा होगी तो उसका एक यज्ञविधान बना डाला। अश्वमेघ यज्ञ, गोमेघ यज्ञ, मनुष्यमेघ यज्ञ आदि बना डाला। घोड़ा, गाय और मनुष्य आदि उस अग्निकुंड में होम दिये जाते थे। उसमें अनेक प्रकार की सुगंधित वस्तुवें पड़ती थी। जब उस सुगंधित वस्तुवों के बीच में वह जीव अच्छी तरह से पक जाता था तो उसकी दुर्गन्ध दूर हो जाती थी, उसे लोग प्रसाद कह करके खाते थे। ऐसा करने में वे धर्मात्मा भी कहलाये और उनके विषयों का पोषण भी हो गया। जरा बतावो तो सही कि इस तरह से जीवों को सताने में कौनसा धर्म होता है? और यह बात शास्त्रों में लिखकर जनता के चित्त में डाली गई कि अमुक का घात करो तो उससे देव प्रसन्न होगा और मनोकामना सिद्ध होगी, यों सारी बातें शास्त्रों में रच डाली। तो जिनके ख्याति, पूजा, लाभ, अभिलाषा की कषाय थी उससे पीड़ित होकर पास से सम्बंध रखने वाले कर्मों को उन्होंने धर्म बताया और ऐसे ही क्रूर शास्त्र अनेक तरह के रच डाले।

बताया यह जा रहा कि यह नरभव मिलना कठिन था और ज्ञान मिला, ध्यान की योग्यता मिली तो किस ओर ध्यान को लगाना था और ध्यान का क्या प्रयोग करना था वह सब तो भूल गए और उल्टी गैल चले, उल्टे शास्त्र रचे।

श्लोक-1185

अनाप्ता वञ्चका: पापा: दीना मार्गद्वयच्युता:।
दिशंत्वज्ञेष्वनात्मज्ञा ध्यानमत्यन्तभीतिदम्।।1185।।

ऐसे पुरुष जिन्होंने ऐसे शास्त्र रचे वे पुरुष अनाप्त हैं, मूढ़ हैं, तत्त्व पर पहुँचे नहीं थे, खुद को भी और दूसरों को भी ठगा था, ऐसे वंचक थे, पापी थे, दीन थे, और न वे इस लोक के रहे, न परलोक के रहे।

देखिये कोई योगी यदि स्वयं कुछ पाप कर ले एक तो वह पाप और एक पाप को पुण्य बता जाना, पाप को धर्म बता जाना, शस्त्र लिख जाना और चाहे कोई स्वयं पाप न किया हो तो आप यह बतलावो कि उन दोनों में से अधिक पापी कौन है? सो उन दोनों ऋषियों में एक तो पापी हो, परिग्रही हो, व्यभिचारी हो, चोर हो, कैसा ही दोष किया हो ऐसे साधु संन्यासी और एक ऐसे साधु संन्यासी जो चाहे खुद बड़ी शत्रुता से रहते हों, और शस्त्र ऐसे लिखे जाते जिसमें सारा पाप का ही उपदेश है जिसमें पापकार्यों को ही धर्म बताया है। तो आप जरा बतावो कि महापाप किसने किया है? जो खोटे शास्त्र रच जायें वह पाप अन्य पापों से भी अधिक है। सो ही लिख रहे हैं कि जो मुनि अनाप्त थे, अज्ञान वंचर दीन, जिनका न यह लोक सफल रहा, न परलोक सफल रहा, उन्होंने ऐसे शास्त्र रचे जिनमें पाप को पुण्य कहा, धर्म कहा, पाप से सिद्धि बताया, ऐसे शास्त्रों को अनेक अज्ञानी रच गए। बताया यह है कि मनुष्यजन्म मिला तो था इसलिए कि मैं कुछ करनी ऐसी कर जाऊँ, अपना विशुद्ध ध्यान बना लें, कुछ धार्मिकता आत्मा में लायें जिससे जन्म मरण से छुटकारा मिल सके, पर अपनी बुद्धि का कैसा दुरुपयोग किया कि खोटे शास्त्रों के रचने में लगा दिया। ज्ञान पाया तो मोह के बढ़ाने में इस ज्ञान को लगाया। बड़े ऊँचे-ऊँचे रागभरे वचनों से दूसरों में प्रेम उप जाना, अर्थात् प्रीति भाव बढ़ाना यह सब वचनों द्वारा किया। ज्ञान पाया तो उस ज्ञान का ऐसा उपयोग किया कि अपने मोहभाव को ही बढ़ाया तो यह बड़े खेद की बात है। जैसे कोई अमृत को विष बनाकर पीले तो वह मूढ़ है, ऐसे ही कुछ मूढ़ पुरुषों ने ज्ञान पाकर उस ज्ञान को विषयकषायों में, खोटे शास्त्रों के रचने में, मोह के बढ़ाने में लगाया सो यह खेद की बात है। देखिये जैसे पर्वत से गिरने वाली नदी का वेग पुन: वापिस लौटकर नहीं आता, जो धार पर्वत से नीचे गिरी सो तो गिर ही गयी, ऐसे ही इस जीवन के जो क्षण व्यतीत हो गए, वे फिर लौटकर नहीं आते हैं। कोई बूढ़ा, भला बालक अथवा जवान बनकर दिखा दे ऐसा तो कोई नहीं कर सकता। हाँ मरकर फिर कहीं बच्चे के रूप में पैदा हो जाय, वह बात अलग है। जब ऐसी बात है कि जीवन के बीते हुए क्षण वापिस नहीं आते तो शीघ्र ही अपने इस दुर्लभ जीवन में जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका सदुपयोग कर लें। अधिकाधिक सत्संग हो, स्वाध्याय हो, ज्ञान की बात अधिक सुनने में आयें, प्रभु की महिमा, प्रभु का स्वरूप हमारे ज्ञान में विशेष बर्ते, यों बात कुछ तत्त्वज्ञान की चले तो उससे जीवन को सफल माने। इन बाहरी विभूतियों से अपने जीवन की सफलता का अन्दाज न लगावें। हमने कितनी शान्ति पायी है, कितनी पवित्रता पायी है, हम कितना निर्मोह होकर रह सकते हैं। इस और दृष्टि जाय।

श्लोक-1186

संसारसंभ्रमश्रान्तो य: शिवाय विचेष्टते।
स युक्त्यागमनिर्णीते विवेच्य पथि वर्तते।।1186।।

जो पुरुष संसार के भ्रमण से खेदखिन्न होकर मोक्ष के लिए चेष्टा करते हैं वे तो विचार करेंगे, युक्ति और आगम से निर्णय किए हुए मार्ग में ही लगते हैं वे अन्य ठगों के बताये हुए मार्ग में नहीं लगते हैं। जिनको वस्तुत: आत्महित की वाञ्छा हुई है वे किसी पक्ष में रुचि न रखेंगे। जहाँ हित हो, शान्ति मिले, उद्धार हो उन ही बातों का आदर करेंगे। तो जिन्हें वास्तव में आत्मा के हित की इच्छा जगी हैं वे ढूँढ़ लेंगे मार्ग और कभी बाहर न मिले किसी निमित्त विधि में तो वह अपने आपमें ही स्वत: अपने में ही पक्ष त्यागकर ढूँढ़ लेगा कि शान्ति का मार्ग क्या है? देखिये मनुष्य धर्मसाधन के लिए उद्यम करेगा तो वह तो भटक सकता है। कोई खोटे मार्ग में लग जाय खोटी धर्मपद्धति में लग जाय, जिस किसी के बताये हुए मार्ग से पलने लगे तो वह मनुष्य तो ठगा जा सकता है, पर पशुवों में धर्म करने की बुद्धि जग जायगी क्या? नहीं जग सकती। उसका कारण है कि पशुवों में गृहीत मिथ्यात्व है, प्रमाद है। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र आदि की मान्यताएँ तो मनुष्य में हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र इत्यादि कुपथ का सेवन तो मनुष्य करता है। यों कुपथ के रास्ते तो मनुष्य निकाल लेगा, पर पशु न निकाल सकेगा। पशुवों में धर्म की बात जगी तो वह ठीक जग जायगी और मनुष्य में धर्म की इच्छा भी हुई और धर्म के लिए यत्न भी करे वह सैकड़ों कुमार्गों को भी अपना सकता है। खेद की बात है कि हमने पशुवों से भी अधिक ज्ञान पाया, बहुत-बहुत ज्ञान पाया, पर उस ज्ञान का उपयोग मोह रागद्वेष के बढ़ाने में करते हैं, तृष्णा बढ़ाने में करते हैं, यह सब बड़े खेद की बात है। जैसे कि अमृत को कोई विष बनाकर पिये तो यह तो उसके लिए खेद की बात है। ध्यान तो मोक्षसाधन के लिए था, पर बना डाला इन पुरुषों ने नरक जाने के लिए तो यह अमृत को विष बनाकर पीने की तरह है। दूध तो विशुद्ध है, ताजा है, मीठा है और उसे कोई जहर बनाकर पिये तो यह कितनी मूढ़ता भरी बात है? ऐसे ही ज्ञान तो पाया है बहुत अच्छा, पर ज्ञान में विषयकषायों की पुट मिलाकर उस ज्ञान का साधन बना रहे हैं तो यह खेद की बात है। बहुत घूम लिया इस संसार में, लोक में नहीं कह रहे, आकाश में नहीं कह रहे किन्तु भावसंसार में। इन विकल्पों में बहुत घूम लिया, बड़ा किया कि मेरा घर है, मेरा परिवार है, मेरी इज्जत है, मेरी पोजीशन है, लेकिन ये सब आश्वासन संसार के भ्रमण के कारण बनते हैं, और विरक्तबुद्धि होना मिला है। ठीक है पुण्य का काम है, पुण्य के उदय में ऐसा हुआ ही करता है। किसी के बहुत अधिक है, किसी के कुछ भी नहीं है। ये सब विचित्रताएँ सिद्ध कर रही हैं कि ये सब पुण्य पाप के ठाठ है।

श्लोक-1187

उत्कृष्टकायबन्धस्य साधोरन्तमुर्हूत्ततः।
ध्यानमाहुरथैकाग्रचिन्तारोधो बुधोत्तमाः।।1187।।

इस छंद में ध्यान का स्वरूप कहा है। उत्कृष्ट ध्यान उस पुरुष के हो सकता है जिसके शरीर में बज्र-वृषभ-नाराचसंघनन हो। जिनका चित्त ऐसा है कि परीषह नहीं सह सकते, जरा-जरासी बातों में चिन्तित हो जाते हैं, ऐसा जिनको शरीर मिला है उनके उत्कृष्ट ध्यान कैसे बने? उत्कृष्ट ध्यान उस पुरुष के बनता हे जिसे साधना भी सहज बड़ी ऊँची प्राप्त हो। बज्रवृषभनाराचसंघनन में बड़ा बल है, बड़ा पौरुष है, और आत्मज्ञान होने के कारण अध्यात्म बल भी बहुत है ऐसा मनुष्य अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त में अपना ध्यान बना सकता है। ध्यान यही है एक ओर चिन्तवन का रुक जाना। किसी भी एक विषय की ओर मन लग जाय, एकाग्रचित्त हो जाय उसी के मायने है ध्यान। देखिये जिसमें मैं-मैं का अनुभव होता है वह खुद है ना कुछ चीज। उसी को तो पकड़ना है कि वह मैं हूँ कैसा? जो अनेक इच्छायें करता है, शान्ति की लालसा रखता है वह मैं हूँ क्या? उस मैं का ही तो निर्णय करना है। तो उस मैं का निर्णय क्यों इतना कठिन बन रहा है? स्वयं ज्ञानस्वरूप है, स्वयं प्रकाश है, स्वयं समझने वाला है, स्वयं ज्ञेय है। ऐसा यह ज्ञान अंतस्तत्त्व क्यों कठिन बन रहा है? यों बन रहा है कि वह अपने किए की, जानने की और हित करने की तीव्र रुचि जगा रहा है। यह सब संसार असार है, अहितरूप है, इसमें विश्वास करने से लाभ न मिलेगा, एक अपने आपके स्वरूप का श्रद्धान करें, विश्वास करें तो उससे अलौकिक आनन्द की सिद्धि होगी। यही उपदेश का मर्म है। अपने सहजस्वरूप को पहिचानें, उस ही स्वरूप के निकट रहा करें जिससे अन्तरङ्ग आत्मप्रदेश सब पवित्र बन जायें। ज्ञानप्रकाश की किरणों से सारे दोष, क्रोधादिक सब भाग जायें, ऐसा अपने को पवित्र बनायें कि यही आत्महित की बात है।

श्लोक-1188

एकचिन्तानिरोधो यस्तद्धयानं भावना परा।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते।।1188।।

ध्यान का स्वरूप बताया है कि जो एक चिन्ता का निरोध है अर्थात् एक ही ज्ञेय से ठहरा हुआ जो ज्ञान है उसका नाम ध्यान है, यह भावना उससे भिन्न है। उसे ध्यान और भावना के जानने वाले विद्वान अनुप्रेक्षा अथवा अर्थचिन्ता भी कहते हैं। ध्यान और भावना, पहिले ही होता है अभ्यास। जब उसका विशेषरूप बढ़ जाता है तो उसका नाम हे भावना और भावना से जो और रूप बन जाता है उसका नाम है ध्यान। सब स्थितियाँ ध्यान से होती हैं, खोटा फल भी ध्यान से मिलता है और अच्छा फल भी ध्यान से मिलता है। ध्यान के बिना कोई जीव नहीं है और यहाँ तक कि जिनके मन नहीं है उनके भी संज्ञा के माध्यम से ध्यान रहा करता है। ध्यान की विशेषता संज्ञी जीवों के होती है, पर ध्यान किसी न किसी अंश में हर एक संसारी जीव के रहा करता है। तो खोटे विषयों में चित्त रुक जाय वहाँ ही मन बना रहा करे इसे कहते हैं खोटा ध्यान। और जो धर्मयोग्य विषय में, चिन्तन में, स्वरूप में बना रहे वह है उत्तमध्यान। तो इसका नाम अनुप्रेच्छा भी है, भावना भी है और जो ध्यानरूप है उसका नाम है अर्थचिन्ता। ध्यान तो सबके होता ही है और ध्यान के सिवाय हम आपकी कुछ करतूत नहीं हैं। वैभव जोड़ना अथवा कोई धर्म जलसा मनाना या कमाई करना— ये सब अपने मन की बात नहीं हैं। सब जगह केवल आत्मध्यान भर करना है और ध्यान करने से फिर प्रदेशों में इच्छा के कारण परिच्छेद होता है और उस परिच्छेद के अनुसार फिर हाथ पैर चलते हैं, फिर और-और बातें होती हैं। तो ध्यान ही हम आप सब जगह कर पाते हैं। जैसे कोई मनुष्य किसी दूसरे का बुरा विचारे तो वह अनिष्ट चिन्तवन ही कर सकता, बुरा नहीं कर सकता। अपना विचार बुरा बना ले, इतनी तक ही उसकी ताकत है, फिर ऐसा ही उपाय करें ना कि विचार अपने बुरे न बनें, भला ध्यान बना लें। भला ध्यान बनाने के लिए आवश्यक है कि सत्संग करें, स्वाध्याय में विशेष समय लगायें, गुरुसेवा धर्म में अपना समय लगायें, ये सब उपाय हैं अपना ध्यान भला बनाने के। ध्यान अच्छा हो गया तो समझो कि अपना मार्ग साफ हो गया। न अब दु:ख है, न आगे दु:ख रहेगा। उस ध्यान का स्वरूप कहा जा रहा है।

श्लोक-1189

प्रशस्तेरसंकल्पवशात्तद्भिद्यते द्विधा।
इष्टानिष्टफलप्राप्तेर्बीजभूतं शरीरिणाम्।।1189।।

कहते हैं कि ध्यान दो प्रकार का है— एक प्रशस्त ध्यान और दूसरा अप्रशस्त ध्यान। भला और बुरा। सो जीव के इष्ट अनिष्टरूप फल की प्राप्ति का कारण है यह ध्यान। शुभ ध्यान का उत्तम फल होता है और अशुभ ध्यान का बुरा फल होता है। अशुभ ध्यान से कर्मबन्ध होता और उसके उदयकाल में क्लेश होता

है। तो अशुभ ध्यान से निराकुलता मिलती है। शुभ ध्यान करने वाले के ऐसा बल प्रकट होता है कि उसका आत्मस्वरूपी किला इतना मजबूत हो जाता कि वह किसी भी परपदार्थ की कैसी ही चेष्टा से अपने आपमें बिगाड़ नहीं मान सकता, और है भी नहीं बिगाड़। हम ही अपने विचार बना बनाकर अपना बिगाड़ करते हैं। परपदार्थ से बिगाड़ नहीं है।

श्लोक-1190

अस्तरागो मुनिर्यत्र वस्तुतत्त्वं विचिन्तयेत्।
तत्प्रशस्तं मतं ध्यानं सूरिभि: क्षीणकल्मषै:।।1190।।

कहते हैं कि जिस ध्यान में मुनि रागरहित होता है और वस्तुस्वरूप का चिन्तन करता है उसही को पवित्र आचार्यदेव ने प्रशस्त ध्यान माना है। जिसमें राग लेश न रहे और वस्तुस्वरूप का ध्यान जगे वह प्रशस्त ध्यान है। शुभ ध्यान के दो लक्षण हैं, एक तो उसके प्रति राग न हो और दूसरे वस्तुस्वरूप का चिन्तन बना हो वह शुभ ध्यान है। अब अपने-अपने ध्यान की परीक्षा कर लेना चाहिए। हम निरन्तर कुछ न कुछ ध्यान बनाया करते हैं, किसी न किसी जगह अपने मन को टिकाया करते हैं वह क्या रागरहित है? अगर रागसहित है तो उसका फल खोटा होगा। दूसरी बात सोचिये— क्या वहाँ वस्तु का चिन्तवन चलता है और विषयों में ही वासना बनी रहती है तो इसका फल नियम से खोटा होगा। तो अपने आपकी परीक्षा कर लें— हमारा विचार ध्यान यदि रागरहित है और वस्तु के स्वरूप के चिन्तवन से युक्त है तो वह हमारा ध्यान उत्तम है। उसके प्रसाद से हम संसार के संकटों से छूट सकेंगे। और यदि ध्यान विषयकषायों में है, इष्ट अनिष्ट में है तो उसका फल नियम से खोटा है।

श्लोक-1191

अज्ञातवस्तुतत्त्वस्य रागाद्युपहतात्मन:।
स्वातन्त्र्यवृत्तिर्या जन्तोस्तदसद्ध्यानमुच्यते।।1191।।

अब इसमें अशुभ ध्यान का स्वरूप कहा जा रहा है। जिसने वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं जाना, जिसका आत्मा रागद्वेष मोह से पीड़ित है ऐसे जीव की स्वाधीन प्रवृत्ति को अशुभ ध्यान कहा गया है। जो

शुभध्यान की विशेषताएँ थी उनसे उल्टी बात असत्ध्यान में है। जहाँ राग पाया जाता हो और वस्तु के स्वरूप का ज्ञान न हो ऐसा जो ध्यान है वह असत् ध्यान कहलाता है। संसार के प्राणियों में ये-ये बातें पायी जा रही हैं, वस्तु के स्वरूप का उन्हें परिचय नहीं है। देखिये राग का नाम अधिक क्यों लिया जाता और वीतराग विराग आदिक शब्दों से केवल राग वीतराग ऐसा क्यों कहा जाता है? राग है द्वेष भी है, वीतराग है तो द्वेष बीत गया ऐसा क्यों नहीं कहा? राग-राग को ही क्यों अधिक कहा? इसका कारण यह है कि राग और द्वेष में मुख्य राग है। जितने द्वेष हुआ करते हैं वे किसी न किसी वस्तु में राग के कारण हुआ करते हैं। जिनको भी हम अपना विरोधी अथवा शत्रु मानते हैं तो तब मानते हैं जब हमें किसी बात में राग है और उसका विरोध हो रहा है जिससे तो हम उससे द्वेष करने लगते हैं। तो द्वेष भी जो बनता है जीव में वह किसी न किसी राग के कारण बनता है, इसलिए मुख्य तो राग है। धन में राग हो जाय उस धन में कोई बाधा डाले तो हम उससे द्वेष करने लगते हैं। हमारा अनुराग यदि इज्जत में है और इज्जत में बाधा डाले तो हम उससे द्वेष करने लगते हैं। हमारा जिस प्रसंग में राग है उसका विघात जिसके निमित्त से होता हो उससे द्वेष करने लगते हैं और केवल चेतन पुरुष से नहीं, अचेतन से भी द्वेष करने लगते हैं। अभी दरवाजे से घुसकर घर में जा रहे हो ऊपर का कोई बिरौंदा लग जाय तो उस पर भी गुस्सा करने लगते हैं। हालांकि वह अचेतन है, उसने ठोकर नहीं मारा, खुद से ही लग गयी पर उस पर भी गुस्सा आता है। कभी किसी बच्चे के किवाड़ लग जाय तो उसकी माँ किवाड़ के दो-चार थप्पड़ मार देती है, लो उस बच्चे का रोना बंद हो जाता है। बच्चे के मन में यह बात आ जाती है कि इसने हमें मारा उसे हमारी माँ ने दण्ड दे दिया। वह बच्चा रोना बन्द करके झट हँसने लगता है। तो जितने भी द्वेष होते हैं वे किसी न किसी वस्तु में राग करने से होते हैं। अतएव राग ही राग की बात कही जा रही है। जिसके राग है वही संसार में रुलता है और जिसके राग नहीं है वह संसार से छूट जाता है। द्वेष का नाम बहुत कम बोला जाता है। द्वेष का मूल हुआ राग और राग का मूल हुआ मोह। मोह है, वस्तु के स्वरूप का यथार्थ भान नहीं है, अज्ञान बना हुआ है तो उस स्थिति में चूँकि इस जीव का सम्बंध पर्याय से है ना तो पर्याय को 'यह मैं हूँ' ऐसी बुद्धि करता है। देह को निरखकर 'यह मैं हूँ' ऐसा अपना प्रयत्न करता है और फिर जब शरीर से प्रीति हो गयी है, उसे आपा मान ले तो शरीर की साधना में उसका राग हो जाता है। तो सबसे प्रबल मोह है। जिसके मोह नष्ट हो गया उसके राग और द्वेष भी नष्ट हो गये, और जिसके राग द्वेष नष्ट हो गए उसको वीतरागता का आनन्द प्राप्त होगा। मनुष्य हुए हैं, हम आप सबको मनुष्य बनकर करने का काम था तत्त्वज्ञान करना, अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप की दृष्टि बनाये रहना— ये दो बातें बनी रहें तो समझो कि उस आत्मा से अमीर और कोई नहीं है। यहाँ के ठाठबाट तो कल्पना की चीज है, उससे कुछ सिद्धि नहीं है। आत्मसिद्धि तो आत्मज्ञान में वस्तुचिन्तन में है। तो जिस मुनि के राग नहीं रहा, तत्त्व का चिन्तन चलता है उसके तो बताया गया कि यह सत् ध्यान है, और जिस पुरुष के वस्तु स्वरूप का यथार्थ भान नहीं है, राग भी बर्त रहा है उसके असत् ध्यान कहा गया है।

स्वयंभूरमण समुद्र बहुत दूर है अन्तिमसमुद्र, और अनगिनते मीलों के बाद है और जितना बड़ा वह समुद्र है उतना बड़ा सारे समुद्र और द्वीप हैं फिर भी उससे वे कम हैं। जैसे बीच में एक गोल बनाया, जम्बूद्वीप गोल ही तो है एक लाख योजन का। उसके बाद दूसरा गोल बनाया, इतना बड़ा दूना गोल हुआ तो दो लाख योजन एक तरफ हो गया। अब उस समुद्र का क्षेत्रफल करें तो उससे कम जम्बूद्वीप मिलेगा, समुद्र से दूना है द्वीप, उससे दूना है समुद्र। इस तरह द्वीप और समुद्र दूने-दूने होते जाते। अन्त का जो समुद्र है वह स्वयंभूरमण है। वह कितना बड़ा है, स्वयंभूरमणसमुद्र में ये सब बाकी द्वीप और समुद्र समा गए। इससे भी बड़ा है। जैसे एक छटांक, उसका दूना आधपाव, उसका दूना पाव, उसका दूना आधसेर, उसका दूना सेर। तो सेर का कितना वजन है? उससे एक ही हिस्सा कम उतना ही वज़न हे उन सब बाँटों का, ऐसे ही एक दूसरे दूने-दूने द्वीप समुद्र हैं। तो आखिरी समुद्र इतना बड़ा है कि सब समुद्र सब द्वीप मिलकर जितने हुए उससे भी बड़ा है स्वयंभूरमणसमुद्र। उस ही स्वयंभूरमण समुद्र में सैकड़ों कोसों के लम्बे मच्छ पाये जाते हैं। जहाँ जितना खुला हुआ स्थान है वहाँ उतना बड़ा जीव पैदा होता है। यहीं देख लो। इस शहर में (मुजफ्फरनगर में) चींटियां जितनी बड़ी हो सकती हैं उससे अधिक बड़ी चींटियां मंसूरी और शिमला वगैरह में पायी जाती हैं। तो जहाँ जिसमें जितना खुला स्थान मिला वहाँ जीव बड़ा होता है। तो स्वयंभूरमण समुद्र में एक मच्छ है जो एक हजार योजन का लम्बा है और उस ही की आँख में एक तंदुल मत्स रहता है जो अत्यन्त छोटी अवगाहना का है। वह मन ही मन कुढ़ता रहता है। वह सोचता है कि यह मच्छ जो अपना मुँह फैलाये है इसमें हजारों मछलियाँ लोट रही हैं, यह नहीं खाता। यदि मैं होता इसकी जगह में तो एक भी मछली बचने न देता, सबको खा जाता, इस प्रकार का परिणाम बनाकर मरण करके वह 7 वें नरक में पहुँच जाता है। तो बुरा ध्यान करने का कोई फायदा नहीं। अपने मन को सम्हालो, सबका हित सोचो, सर्व का भला चिन्तन करो, किसी का अहित न सोचो। सद्ध्यान से ही इस जीव का लाभ है और असत् ध्यान से ही इस जीव का पतन है। खोटे ध्यान तजकर अच्छे ध्यानों में अपने मन को लगाना चाहिए। कोई भी प्रसंग हो सर्वत्र उदारता बर्ते। अपने पास जो कुछ आना हो आये, जो जाना हो जाये, ये सब औपाधिक बातें हैं। यहाँ कुछ बंधकर नहीं रहता है। अगर पुण्य का उदय है तो सब कुछ प्राप्त होता है और अगर पुण्य का उदय नहीं है तो कितना ही प्रयत्न कर लिया जाय पर किसी भी चीज की प्राप्ति नहीं होती है। वस्तु का यथार्थ चिन्तन ऐसा करना चाहिए कि उदारता का परिणाम जगे, एक ही बात नहीं, सभी बातों में यही शिक्षा लेना है। कोई अच्छा बोले, बुरा बोले, गाली दे, कुछ भी करे तो उसके मात्र ज्ञाताद्रष्टा रह सकें, चित्त में क्षोभ न ला सकें, यही एक महिनीय बात है।

श्लोक-1192

आर्तरौद्रविकल्पेन दुर्ध्यानं देहिनां द्विधा।
द्विधा प्रशस्तमप्युक्तं धर्मशुक्लविकल्पत:।।1192।।

यह ध्यान का मुख्यतया ग्रन्थ है, तो इस परिच्छेद से पहिले-पहिले सब ध्यान की योग्यता बन सके वैसा वर्णन आया है। बारह भावनाओं का स्वरूप कहा, ध्यान, ध्याता, ध्येय, फल सबका विवरण बनाया और जैसे वैराग्य जगे, काम विकार नष्ट हो, कषायें दूर हों, उस प्रकार का चिन्तन कराया और फिर उनके उपाय में समतापरिणाम मुख्य है, वह जैसे बन सके उस प्रकार ज्ञान और वैराग्य का उपदेश दिया। सब कुछ बहुत-बहुत वर्णन करने के बाद, ध्यान के अंग का भी विचारविनिमय करने के बाद अब ध्यान का सीधा वर्णन किया जा रहा है। ध्यान 2 प्रकार के बताये— एक शुभ ध्यान और एक असत् ध्यान। असत् ध्यान तो दो प्रकार का है— आर्तध्यान और रौद्रध्यान। आर्तध्यान में तो पीड़ा होती है, रौद्र ध्यान में यह जीव मौज मनाता है। कोई इष्ट पुरुष का वियोग हो गया, अब उसका ध्यान बनाये हुए हैं—यह कब मिले? कैसे मिले? यह इष्ट वियोगज आर्तध्यान अनिष्ट विचार का संयोजक हुआ करता है। किसी अनिष्ट विचार से अनिष्टवियोगज आर्तध्यान होता है। इन दोनों ध्यानों में जीव को पीड़ा हुआ करती है। इष्ट का वियोग हुआ तो वहाँ भी कष्ट होता है, अनिष्ट का संयोग होता है तो वहाँ भी कष्ट होता है। तीसरा आर्तध्यान है वेदनाप्रभव। शरीर में कोई वेदना हुई तो उसमें ध्यान बनाये हुए हैं कि हाय अब क्या होगा? क्या यह वेदना बढ़ जायगी? क्या मरण हो जायगा? यों इस शरीर की वेदना के सम्बंध में ध्यान बनता है वह सब आर्तध्यान है। चौथा आर्तध्यान है निदान का। किसी बात की आशा रखना इस भव के लिए अथवा परभव के लिए, अमुक पदार्थ मुझे मिले, उसकी आशा बनाये तो आशा के भाव में भी तो पीड़ा होती है। अभी यहीं आप किसी की बाट जोह रहे हों, कुछ देर हो गयी, वह न आया तो आप झट झुंझला जाते है। तो आशा करके जो वेदना होती है वह सब आर्तध्यान कहलाता है। रौद्रध्यान में यह जीव मौज मानता है। जैसे कोई हिंसा करने लगे, झूठ बोले, चोरी करे, कुशील सेवन करे और परिग्रह बहुत बढ़ायें और इन समस्त पापकार्यों को करता हुआ वह मौज भी माने तो यह रौद्रध्यान है। यों आर्तध्यान और रौद्रध्यान तो अशुभ ध्यान बन गए और दो ध्यान शुद्ध बताये गए— धर्मध्यान और शुक्लध्यान। धर्मध्यान तो उसे कहते हैं जहाँ धर्म में चित्त बढ़े। देव पूजा, स्वाध्याय, तपश्चरण आदिक जिनमें भावना पवित्र रहे ये सब धर्मध्यान हैं और शुक्लध्यान वह है जहाँ रागद्वेष मोह नहीं रहे। धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो समीचीन माने गए हैं और आर्तध्यान व रौद्रध्यान खोटे ध्यान माने गए हैं। इस काल में शुक्ल ध्यान तो बन नहीं सकता। इस पंचम काल में विरक्ति परिणाम से, अधिक से अधिक सप्तम गुणस्थान तक ही जीव पहुँच सकता है। वहाँ शुक्लध्यान नहीं है, पर धर्मध्यान बहुत

प्रताप वाला ध्यान है, जिसका सम्बंध कर्मनिर्जरा से चलता रहा है। नहीं बन सकता शुक्लध्यान किन्तु धर्मध्यान की तो हम आपमें योग्यता है। हम अपना धर्मध्यान बना लें। सच समझ लो कि मेरा तो मैं ही आत्मा हूँ, दूसरा कोई मेरा कुछ नहीं है। मैं सबसे न्यारा मात्र ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, अत: कोई समय ऐसी सच्ची दृष्टि बने तो वही धर्मध्यान होता है। उसी धर्मध्यान के लिए हम आप सबको विशेष यत्न रखना चाहिए।

श्लोक-1193

स्यातां तत्रार्त्तरौद्रे द्वे दुर्ध्यानेऽत्यन्तदु:खदे।
धर्मशुक्ले ततोऽन्ये द्वे कर्मनिर्मूलनक्षमे।।1193।।

उन चार प्रकार के ध्यानों में से आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दो खोटे ध्यान हैं जो कि अत्यन्त दु:ख को देने वाले हैं और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान ये दो समीचीन हैं और कर्म का निर्मूलन करने में समर्थ हैं। मिथ्यात्व अवस्था तब केवल आर्त और रौद्रध्यान रहते हैं, धर्मध्यान नहीं बनता। शुक्लध्यान तो योगीश्वरों के हुआ करता है। आर्त और रौद्रध्यान से हटकर धर्मध्यान में आयें ऐसा उद्यम करना चाहिए, क्योंकि जीव को एक विशुद्ध ध्यान ही शरण है। अब तक जो संसार में इतनी भटकना हुई है वह आर्तध्यान और रौद्रध्यान का ही परिणाम है। ये क्या होते हैं? इसके विस्तार से वर्णन आगे चलेगा, पर संक्षेप में यों जान लें कि जहाँ वेदना सहित ध्यान होता है वह तो आर्तध्यान है और जहाँ मौजसहित ध्यान होता है वह रौद्रध्यान है। विषयों में हिंसा आदिक प्रवृत्तियों में मौज मानते हुए जो चिन्तन चलता है वह रौद्रध्यान है। तो उसमें से अब चार प्रकार के ध्यानों में भेद कितने हैं? इसका वर्णन करते हैं।

श्लोक-1194

प्रत्येकं च चतुर्भेदैश्चतुष्टयमिदं मतम्।
अनेकवस्तुसाधर्म्यवैधर्म्यालम्बनं यत:।।1194।।

आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान— ये चार ध्यान चार-चार प्रकार के होते हैं। किसी में भेद करना हो तो उसमें साधर्म और वैधर्म दोनों पाये जाते हैं, जहाँ जीव के भेद करते हैं। जीव दो तरह के हैं— मुक्त और संसारी। तो किसी दृष्टि से मुक्त और संसारी दोनों में समानता आना चाहिए, तब तो वह

भेद है अन्यथा भेद नहीं है। और किसी दृष्टि से इन दोनों में परस्पर में फर्क भी होना चाहिए, तब तो वह भेद है अन्यथा भेद नहीं है। तो मुक्त और संसारी ये जीवत्व की अपेक्षा तो समान हैं, और मुक्त हैं कर्मरहित, संसारी जीव हैं कर्मसहित। यों इन दोनों में भेद है। तो ऐसे ही आर्तध्यान में चार भेद कहे गए। और सबको विदित है कि इष्ट वियोगज, अनिष्ट संयोगज, वेदना प्रभव और निदान— ये चार आर्तध्यान कहलाते हैं। इन चारों में समानता होना चाहिए तब तो आर्तध्यान के भेद कहलायेंगे तो समानता है। पीड़ा का ध्यान वह इष्टवियोग में भी है, अनिष्ट संयोग में भी, वेदना प्रभव में भी और निदान तक में है। तो क्लेश की दृष्टि से चारों समान हो गए। पर इष्ट के वियोग से हुआ इष्टवियोगज, अनिष्ट के संयोग से हुआ अनिष्टसंयोजक। तो यह वैधर्म हुआ। तो साधर्म और वैधर्म का आलम्बन हो तो भेदप्रक्रिया बनती है। जैसे संसारी जीव 5 तरह के हैं— एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। तो ये पांचों के पांचों संसारी हैं इस दृष्टि से बराबर हैं और ये पांचों आपस में एक दूसरे से भिन्न हैं। कोई एकेन्द्रिय है, कोई दोइन्द्रिय है, कोई तीन इन्द्रिय है, कोई चारइन्द्रिय है और कोई पञ्चेन्द्रिय है। तो किसी बात में तो हो समानता और किसी बात में हो भिन्नता तो वह भेद कहलाता है। तो यों चार प्रकार के ध्यान के चार-चार भेद बताये गए हैं। उनमें से अब प्रधान आर्तध्यान का स्वरूप बतलाते हैं।

श्लोक-1195

ऋते भवमाथार्तं स्यादसद्ध्यानं शरीरिणाम्।
दिग्मोहोन्मत्ततातुल्यमविद्यावासनावशात्।।1195।।

पीड़ा में उत्पन्न होने वाले ध्यान को आर्तध्यान कहते हैं। वह ध्यान अप्रशस्त ध्यान है और इस ध्यान में जीव की ऐसी दशा होती है कि जैसे दिशाओं के भूल जाने से उन्मत्तता आती है, पागलपन आता है, किंकर्तव्यविमूढ़ता आती है, इसी प्रकार आर्तध्यान में यह जीव किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। इष्ट का वियोग हो उसे फिर कुछ सूझता नहीं है। पिता का, माँ का, पत्नी का, पति का जो भी इष्ट हो उसका वियोग हो तो फिर दुनिया एकदम असार प्रतीत होने लगती है। कुछ नहीं रखा है इस दुनिया में—इस प्रकार का ध्यान बनता है, और वस्तुत: देखो तो जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग अवश्य होगा। चाहे जिसका पहिले वियोग हो, पर वियोग प्रत्येक समागम का अवश्य होगा। यह वियोग तो होता ही आया है, किन्तु खुद में मोह है सो उसे अनहोनी सी लगती है। बड़ी आफत आ गयी, बड़ा उपद्रव ढा गया, ऐसा प्रतीत होता है। पर यह तो संसार की रीति है, उस रीति से यह सब हो रहा है। तो पीड़ा मों जो ध्यान बनता है आकुलतामय उसका

नाम है आर्तध्यान। यह असत् ध्यान है, और जैसे दिशा भूल जाय तो उसमें उन्मत्तता आ जाती है, कुछ पता नहीं रहता, क्या करें, कहाँ जावें, कहाँ रक्षा होगी? जैसे दिशा भूलने वाले पुरुष को सुध नहीं रहती है इसी प्रकार आत्मस्वरूप की दिशा भूल हो जाने पर इसे कुछ भी सुध नहीं रहती। वे चार भेद कौनसे हैं? आर्तध्यान के हैं, उन चारों भेदों को बताते हैं।

श्लोक-1196

अनिष्टयोगजन्माद्यं तथेष्टार्थात्ययात्परम्।
रुक्प्रकोपात्तृतीयं स्यान्निदानात्तुर्यमङ्गिनाम्।।1196।।

पहिले आर्तध्यान का नाम है अनिष्टसंयोगज। जो अपने को इष्ट नहीं है, जिसे देखना भी नहीं चाहते हैं, जिससे दूर बने रहना चाहते हैं ऐसे अनिष्ट पदार्थ का संयोग जुड़ जाय तो उसमें जो कुछ पीड़ा होती है वह है अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान। देख लो जगत में किसी का कोई न इष्ट है, न अनिष्ट है, मुझसे समस्त जीव भिन्न हैं, किसी भी जीव के परिणमन का प्रभाव मेरे में नहीं आता। मैं उनकी परिणति को निरखकर निमित्त बनाकर अपने आपमें ही अपना एक प्रभाव उत्पन्न करता हूँ। प्रभाव का अर्थ है— चाहे बुरा हो, चाहे अच्छा हो, एक स्थिति से कुछ विलक्षण स्थिति बन जाय इसका नाम है प्रभाव। तो अनिष्ट तो कुछ दुनिया में है नहीं लेकिन मोह का ऐसा प्रभाव है कि मान्यता बनी रहती कि अमुक मेरा है, अमुक यों है, इष्ट है, अनिष्ट है, इस ही मान्यता से इस जीव को कष्ट हो रहा है। यही है अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान। दूसरा है इष्टवियोगज आर्तध्यान। जो पदार्थ इष्ट है उसका वियोग हो जाने से उसके मिलाप के लिए चिन्तन करना इष्टवियोगज आर्तध्यान है। किसी का कोई गुजर गया हो तो जहाँ से जिस गली से वह रोज आया करता हो उस गली की ओट खटकी लगाकर रोज देखता रहता है। उसे पता है कि उसका वियोग हो गया, फिर भी ऐसा भाव बना रहता कि वह आता होगा। इस प्रकार का ध्यान करना आर्तध्यान है। यह नहीं हो पाता कि चलो अब उसकी दृष्टि छोड़कर विशुद्ध आत्मध्यान में लगें तो उसका हित ही कर लें, यों विकल्प नहीं उठता, मोह का ऐसा प्रभाव है। तीसरा आर्तध्यान है रोग के प्रकोप से जो पीड़ा आदिक चिन्तन होता है वह है वेदनाप्रभव। कोई रोग हो गया, अब उसमें विचार बुरा चल रहा, हाय बढ़ न जाय, कब मिटेगा, बड़ी पीड़ा है, इस प्रकार के आर्तपरिणाम होते हैं। तो यह तीसरा आर्तध्यान है वेदनाप्रभव और चौथा ध्यान है निदान। आशा, प्रतीक्षा, इच्छा होने में भी बड़ा क्लेश है ना, तो इसी का नाम निदान है। किसी सांसारिक पद की वाञ्छा करना इसका नाम है निदान। तो आप समझ लो कि इच्छा में भी कितने क्लेश उठाने पड़ते हैं?

इच्छा हुई और भागे-भागे फिरे। तो यह इच्छा भी, निदान भी आर्तध्यान है। अब इन चारों में से अनिष्टसंयोगज ध्यान का स्वरूप विवरण से कहते हैं।

श्लोक-1197

ज्वलनवनविषास्त्रव्यालशार्दूलदैत्यै: स्थलजलबिलसत्त्वैर्दुर्जनारातिभूपै:।
स्वजनधनशरीरध्वंसिभिस्तैरनिष्टै र्भवति यदिह योगादाद्यमार्त्तं तदेतत्।।1197।।

इस लोक में कोई ऐसा उपद्रव आये जिससे स्वजन, कुटुम्बी जन का धन का और शरीर का नाश होने को हो। जैसे आग लग जाय तो सब कुछ नष्ट होगा ना, तो अग्नि लगने पर जो चिन्तन बनता है, खेद होता है, हाय सब भस्म हो जायेगा, मेरे इष्ट, मेरे प्रिय, मुझे सुख देने वाले अमुक पदार्थ खाक हो जायेंगे, ऐसा चिन्तन आता है तो उसे एक पीड़ा उत्पन्न होती है। जल के बीच कोई फँस गया हो, चारों तरफ से जल ने घेर लिया हो तो उस समय कितनी पीड़ा होती है? हाय अब कैसे प्राण बचेंगे, क्या हाल होगा, यों अनिष्ट चिन्तन करना सो अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान है। इसी तरह विष, सर्प, सिंहादिक, क्रूर जानवर, दुश्मन, राजा आदिक इन सभी अनिष्ट पदार्थों के संयोग से जो ध्यान बनता है उसे कहते हैं अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान। यह तो हुआ अनिष्टसंयोगज ध्यान का स्वरूप। अब इसे रोका कैसे जाय? इस पर विचार करें। रोकने की मूल तरकीब तो यह है कि हम उसे अनिष्ट मत मानें। उसे अनिष्ट न मानने से फिर ये खोटे ध्यान दूर हो सकते हैं। कैसे समझें कि यह अनिष्ट नहीं है? तो उसका स्वरूप समझना होगा। यह मैं आत्मा जैसा परिणाम करता हूँ वैसा फल पाता हुँ। किसी दूसरे की चेष्टा से मेरे आत्मा में कुछ परिणमन नहीं हो जाता। कोई चेष्टा करे, गाली-गलौज करे तो उसकी गाली को सुनकर हम खुद कल्पनाएँ बनाते हैं और अपनी कल्पनाओं से भावना वासना से अपने आपको दु:खी कर डालते हैं। कोई दूसरा जीव मुझे दु:खी नहीं कर सकता। तो भेदविज्ञान की बात दृष्टि में रहे, अपने को सबसे निराला ज्ञानमात्र आनन्दमय समझा करें तो फिर लोक में मेरे लिए कहीं कुछ अनिष्ट नहीं है। कोई आदमी गाली दे गया, अब पर्याय की ओर हम दृष्टि डालते हैं अपने शरीर को निहारकर जो यह अनुभव करते हैं कि यह मैं हूँ तो गाली देने वाले पर उसे क्रोध उमड़ आता है, ओह ! इसने मुझे यों कह दिया। तो जब अपनी पर्याय में आत्मा की बुद्धि रही और भेदविज्ञान बना, मैं तो देह भी नहीं हूँ। ये लोग भी क्या हैं जिनका समागम हुआ है, बच्चे महिलायें कुछ भी ये तो मेरे से अत्यन्त निराले हैं। तीन काल भी इनका और मेरा सम्बंध नहीं बन सकता। मैं तो केवल अपने ही भावों से दु:खी होता हूँ, मेरा अनिष्ट करने वाला इस जगत में कोई परजीव नहीं है, परपदार्थ नहीं है।

ऐसा दृढ़ निश्चय हो तो अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान को जीता जा सकता है। जो आज अनिष्ट जँच रहा है कुछ समय बाद ही आपके मन के कषाय के अनुकूल कुछ चेष्टा बन जाय तो उसे मित्र मान लेते हैं और जिसे आज मित्र मान रहे हैं जिसके बिना खा पी नहीं सकते, रह नहीं सकते, कहो कुछ ऐसी परिस्थिति बन जाय कि वह दुश्मन हो जाय, शत्रु मानने लगे, अनिष्ट मानने लगे, यह तो अनुभव की बात है, अपने में विचार कर लीजिए, किसे मानें कि ये अनिष्ट है? जाड़े के दिनों में ये ही कपड़े बड़े अच्छे लगते थे मोटे वाले, अब गर्मी के दिनों में ये कपड़े सुहाते नहीं हैं। तो किस बात का इष्ट मानना और किस बात का अनिष्ट मानना? कुटुम्ब में प्रथम पृथक कुछ समय तक विवाह के बाद पति-पत्नी में बहुत अनुराग रहता है, कुछ समय बीत जाने पर जरा-जरासी बात पर मुँहजोरी होने लगती है। तो उनको बीच-बीच में क्लेश उठाना पड़ता है। तो इष्ट क्या रहा? सीधी सी बात तो यह है कि जो इष्ट होगा वह अन्त में बड़ा दु:ख देकर ही दूर होगा। उस इष्ट के प्रति विचार विचारकर दु:ख होगा। किसमें विश्वास करें, किसकी आशा रखें कि उससे हमें सुख मिलेगा? संसार के कोई भी पदार्थ विश्वास के योग्य नहीं हैं। तब क्या इष्ट और क्या अनिष्ट? अपनी कल्पनाएँ करते हैं और उसके अनुसार इष्ट अनिष्ट मान लेते हैं। तो कोई अग्नि, जल, विष, शस्त्र, सर्प आदिक किन्हीं के द्वारा जो कोई क्लेश माना जाता है। अनिष्ट मानकर उन्हें उनके सम्बंध से फिर जो एक पीड़ा उत्पन्न होती है अथवा कल्पना बना डाली जाती है वह सब है अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान।

श्लोक-1198

तथा चरस्थिरैर्भावैरनेकै: समुपस्थितै:।
अनिष्टैर्यन्मन: क्लिष्टं स्यादार्तं तत्प्रकीर्तितम्।।1198।।

चर और स्थिर अनेक अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति होने पर मन क्लेशरूपी अनुभव करने लगता है उसी का नाम है प्रथम आर्तध्यान। ज्ञानमात्र अमूर्त मैं आत्मा हूँ, ऐसी दृष्टि में पहुँच आया और फिर उस ही का अभ्यास बनाने का प्रयत्न हो तो अनिष्ट को अनिष्ट न माना जाय, ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है। तो अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान तब होता है जब अज्ञानभाव बसा होता है। फिर चलने वाले पदार्थ जीव पुरुष कुटुम्ब और न चलने वाले पदार्थ जैसे ये अजीव वैभव उनकी प्राप्ति होने पर तो अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर मन क्लेशरूप होता है, उसको आर्तध्यान कहते हैं। अब चोरों को घर का यह मालिक अनिष्ट जँचता है क्यों कि वह जग रहा है। वे चोर सोचते हैं कि इसे नींद क्यों नहीं आ जाती? जिस चाहे को जो चाहे अनिष्ट मान लेते हैं। किसी शिकारी को साधु दिख जाय तो वह शिकारी उसे अनिष्ट मानने लगता है। वह

सोचता है कि आज साधु के दर्शन हो गए, कोई शिकार न मिलेगा। जिसके मन में जो आता है वह इष्ट अनिष्ट बन जाता है। ऐसी कल्पना अनिष्ट पदार्थ के संयोग होने पर जो उसका चिन्तन बनता है उसे अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान कहते हैं। जो चर और अचर पदार्थों की प्राप्ति होने पर मन कष्टरूप अनुभव करने लगता है उसी का नाम यह है प्रथम आर्तध्यान। और भी सुनो।

श्लोक-1199

श्रुतैर्दुष्टैः स्मृतैर्ज्ञातैः प्रत्यासत्तिं च संसृतैः।
योऽनिष्टार्थैर्मनःक्लेशः पूर्वमार्त्त तदिष्यते।।1199।।

जो सुने देखे, स्पर्श में आये हुए पदार्थों को निकट प्राप्त हुए अनिष्ट पदार्थों को, मन को क्लेश हो तो उसे पहिला आर्तध्यान कहते हैं। कोई पदार्थ जो कभी देखा नहीं, सुना नहीं, अनिष्ट है, वह उस पदार्थ के प्रति सम्भावना भी चित्त में आये तो वहाँ आर्तध्यान होता है। कोई भोगे गए वैभव आदिक अथवा स्मरण में आ गये हैं ऐसे निकट प्राप्त हुए अनिष्ट पदार्थों से मन को क्लेश होना उसका नाम है अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान। इससे कर्म का बन्ध होता है और नरक आदिक गतियों का बन्ध होता है। कभी किसी के फन्दे में आकर, संग में आकर मंदिर जाना पड़े और वहाँ यह बड़ा बुरा मानता रहे, व्यर्थ में यहाँ आकर समय खोना पड़ा, ऐसा सोचे तो वह मंदिर में रहकर भी आर्तध्यान बना रहा है। तो जहाँ कोई दूसरा पदार्थ अनिष्ट जँचे तो वहाँ जो कुछ भी ध्यान बनता, वियोग के लिए ही ध्यान बनता। जिस चीज को हमने अनिष्ट मान लिया उसको अपनाने का भाव रहता है या जल्दी से अलग हो जायें, यह भाव रहता है? तो देखा हुआ हो कुछ अथवा स्मरण में आया हो कुछ या किसी प्रकार जाना हुआ हो, निकट में आया हुआ हो, ऐसे अनिष्ट पदार्थों से जो मन को क्लेश होता है उसे अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान कहते हैं। यह ध्यान दुःखदायी है और यह सब संसारी जीवों में पाया जाता है।

श्लोक-1200

अशेषानिष्टसंयोगे तद्वियोगानुचिन्तनम्।
यत्स्यात्तदपि तत्त्वज्ञैः पूर्वमात्तं प्रकीर्तितम्।।1200।।

समस्त अनिष्ट का संयोग होने पर उनके वियोग का जो अनुचिन्तन होता है वह भी आर्तध्यान कहलाता है। अनिष्ट सामने आये तो यह भाव होता है कि यह कब मिटे, इस प्रकार का ध्यान बनता है, निदान होता है तो सभी प्रकार का अनिष्ट का संयोग होने पर उन-उन पदार्थों के वियोग का चिन्तन करना, कब दूर हो, इस प्रकार अनिष्ट का संयोग होने पर बल की भावना करना यह भी अनिष्टसंयोगज नामक आर्तध्यान है। आर्तध्यान का फल बुरा है, धर्मध्यान का फल उत्तम है, ऐसा जानकर आर्तध्यान की भूमिका से हटकर उसही उत्कृष्ट आत्मध्यान की भूमिका में आना चाहिए। अपने को ज्ञानमात्र मानें और उसही में तृप्त रहकर प्रसन्न होने का उपाय करें।

श्लोक-1201

राज्यैश्वर्यकलत्रबान्धवसुहृत्सौभाग्यभोगात्यये,
चित्तप्रीतिकरप्रसन्नविषयप्रध्वंसभावेऽथवा।
संत्रासभ्रमशोकमोहविवशैर्यत्खिद्यतेऽहर्निशम्,
तत्स्यादिष्टवियोगजं तनुमतां ध्यानं कलङ्कास्पदम्।।1201।।

आर्तध्यान का दूसरा भेद है इष्टवियोगज। जो पदार्थ इष्ट है उसका वियोग होने पर जो इष्ट के मिलने के लिए चिन्तन बना रहता है उसका नाम है इष्टवियोगज आर्तध्यान। आर्तध्यान जितने होते हैं सबमें क्लेश रहता है। अनिष्ट का संयोग होने पर अनिष्ट को मिटाने के लिए वेदना उठती थी। इष्ट का वियोग होने पर उसके संयोग के लिए चिन्तवन और वेदना होती रहती है। राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री, कुटुम्ब, मित्र, सौभाग्य, भोग आदिक इनके नष्ट होने पर, विषयों का प्रध्वंस होने पर पीड़ा, भ्रम, शोक, मोह उत्पन्न होता है और इस कारण निरन्तर खेदरूप रहता है, यह इष्टवियोगज नाम का आर्तध्यान है। स्वरूपदृष्टि से देखो तो आत्मा का आत्मा के सिवाय अन्य किसी पदार्थ से कोई वास्ता नहीं है वास्तव में। मानने की, कल्पना की बात अलग है। कल्पना में तो कुछ भी मान लो किन्तु स्वरूप को देखकर यदि निर्णय किया जाय तो यह निर्णय है सही अपने आपको लक्ष्य में लेकर निरखिये कि मेरे आत्मा का तो मेरे आत्मा के प्रदेशों में ही जो गुण है, शक्ति है उससे ही सम्बंध है, उससे बाहर किसी भी अन्य पदार्थ से सम्बंध नहीं है क्योंकि सभी पदार्थ अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चतुष्टय को लिए हुए हैं और यह मैं आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चतुष्टय से रहता हूँ, इस कारण न मेरा कर्तव्य किसी अन्य पदार्थ से है और न किसी अन्य जीव का अथवा अजीव का किसी भी पदार्थ का सम्बंध न मुझमें है, फिर नाता क्या रहा? स्वयं ज्ञान में आकर यह जीव मोह

और स्नेह की कल्पनाएँ जगाता है और-और दु:खी होता है। इष्ट में सभी चीजें हैं। जैसे किसी ने यह नियम बनाया है क्या कि कितना धनवैभव हो जाय तो शान्ति मिला करे। वही मनुष्य जो पहिले यह सोचता था कि 50 हजार की सम्पदा हो जाय फिर तो कोई आपत्ति ही नहीं है, अच्छी प्रकार से गुजारा है, सब कुछ उसमें समृद्धि है, इससे अधिक की हमें चाह नहीं है, और जब 50 हजार हो जाते हैं तो फिर उसे यह थोड़ा दिखने लगता है। उस ढंग का इसका वातावरण हृदय में बनता है, तो फिर दुबारा सीमा रखता है। मान लो दो लाख हो जायें तो सोचता है कि अब तो बहुत हो गया, अब करना क्या है, और दो लाख होने पर फिर वह भी थोड़ा लगने लगता है। परिणाम यह निकलता कि कैसा ही कुछ हो जाय, करोड़पति भी हो जाय, चक्रवर्ती भी हो जाय तो भी धनवैभव के कारण उसकी ओर से शान्ति का कोई हल नहीं है। तब फिर क्या इष्ट है? बल्कि जिस पदार्थ को हम इष्ट समझते हैं उसी के कारण हृदय में शोक चिन्ता और अशान्ति जगती है। घर के स्त्री पुत्रादिक की जरा-जरासी बात को देखकर क्रोध उमड़ आता हे, और-और ही भाव जग जाते हैं। चिन्ता और शोक हो जाते हैं। तो जिसे हम इष्ट समझते हैं वही हमारे अनिष्ट का खास कारण है। तो इष्ट क्या है जगत में और अनिष्ट क्या है, कुछ भी नहीं। यह दृष्टि जगे कि आत्मा जो सहजशुद्ध ज्ञायकस्वरूप है तन्मात्र ही मैं हूँ। मैं आत्मा तो चैतन्यस्वभावरूप हूँ ऐसा अपने आपका विश्वास बनाये तो फिर उसे अन्य कोई पदार्थ इष्ट न लगेगा और न अनिष्ट लगेगा। और कुछ पदार्थ न तो इष्ट जँचे, न अनिष्ट जँचे ऐसी ज्ञानज्योति प्रकट हो जाय तो इससे बढ़कर और अमीरी कुछ नहीं है। आत्मा का स्वरूप ज्ञान है और ज्ञान के शुद्ध विलास से ही आत्मा की अमीरी समझी जाती है। आत्मा का शरण बाह्य में कुछ नहीं है, जिसको शरण मानते हैं, इष्ट समझते हैं, जिससे प्रीति जगती है, अरे वह इष्ट क्या है? उसके लिए तो महा अनिष्ट है। रागवश इष्ट जँच रहे हैं। आत्मा स्वयं अपने आप सुखी है। इसका कोई आकुलता का अपने आपकी ओर से कुछ भी कारण नहीं है, लेकिन जब अपने में नहीं ठहरते, अपने से बाहर में किसी पदार्थ में अपना ग्रहण बनाता है, फिर यह जीव स्वयं अपने आप आकुलित हो जाता है। तो ये जो इष्ट पदार्थ हैं बाहर दृष्टि फैल गयी, मेरा इतना बड़ा देश है, देश के निवासी सब मेरे प्रजाजन हैं, इनमें मैं बड़ा माना जाता हूँ। ये लोग मुझे राजा करके मानते हैं, कितने ही विकल्प मचालें, पर है क्या? इस समस्त विश्व में जो कि 343 घनराजू प्रमाण है, एक राजू में असंख्याते योजन के असंख्याते द्वीप समुद्र समा गये। घन में 343 राजू लोक है। कितनी सी यह जगह है जिसमें कोई भी राजा लोगों से अपना बड़प्पन मानता है। और फिर मर गए तो वह भी न रहा। पर ज्ञान में राज्य ऐश्वर्य ये सब कुछ अपने बड़प्पन के साधन प्रतीत होते हैं, ऐसे ही स्त्री कुटुम्ब पुत्र आदिक जो परिजन हैं वे परिजन इष्ट प्रतीत होते हैं। देखिये ज्ञानी पुरुष किसी भी समय तक घर में रहता है तो क्यों रहता है? उसका कारण यह है कि ज्ञान तो इतना प्रकट होता है कि उसकी अन्तर में यह अभिलाषा है कि गृहस्थी बसाकर रहने में आत्मा का कल्याण नहीं है। उसकी भावना है कि निर्ग्रन्थ, वनवास, आत्मसाधना में ही समय लगना चाहिए। चित्त में तो यह बात है कि कर्मों का उदय इस प्रकार का

है अथवा उसकी स्वयं अशक्ति इतनी है कि वह इस बात में समर्थ नहीं है कि एकाकी निष्प्रह हो जाय, केवल आत्मतत्त्व की रुचि से ही प्रसन्नता में समय व्यतीत कर सके। इतनी जब शक्ति नहीं है तो ऐसी स्थिति में गृहस्थ धर्मपालन करने के सिवाय दूसरा कोई उचित चारा नहीं है। अब गृहस्थी में मोक्षमार्ग में चलने लायक योग्यता कैसे रहती है सो सुनो। गृहस्थ धर्म में पंच अणुव्रतरूप वृत्ति होती है— अहिंसा अणुव्रत, अचौर्य अणुव्रत, सत्य अणुव्रत, ब्रह्मचर्य अणुव्रत और परिग्रह परिणाम अणुव्रत। अहिंसा अणुव्रत तो अपने आप ऐसा सधा रहता है कि त्रस हिंसा का पूर्ण त्याग है और स्थावर एकेन्द्रिय जीवों की भी बिना प्रयोजन हिंसा नहीं करता। अहिंसा व्रत की दिशा में गृहस्थ ने यह परिणाम लिया है। यह अणुव्रत बनाता है। बोलना तो चाहिए केवल आत्मा की ही बात। वही सत्यमहाव्रत में, लेकिन यहाँ जब गृहस्थी में रहना पड़ रहा है, अपने आपको अनेक पापों से बचाने के लिए जब गृहस्थ धर्म को अंगीकार किया है तो यहाँ अर्थव्यवस्था भी चाहिए, अत: अनेक प्रकार के रोजगार करने पड़ते हैं। वहाँ उसे बहुत-बहुत वचनव्यवहार भी करना पड़ेगा तो सच्चाई से ईमानदारी से वचनव्यवहार भी करेगा। इसमें सत्य का भी वह गृहस्थ ख्याल रखता है। अचौर्य अणुव्रत में किसी की चीज नहीं चुराता, परधन नहीं हड़पता और अपने आपमें ऐसा विश्वास बनाये रहता कि अध्यात्मदृष्टि से तो कोई भी परपदार्थ को अपना बनाये, अपना माने यह चोरी है। इस चोरी को तो इस ज्ञानी ने छोड़ दिया। अब व्यवहारिक रूप से जो वस्तुवों में उलझन बनी है वह रह गयी है सो उसमें अपना विवेक रखता है। गृहस्थ धर्म में ज्ञानी ब्रह्मचर्य का पालन करता है, स्वदारसंतोषवृत्ति रखता है यह ज्ञानी गृहस्थ, और परिग्रह बिना गृहस्थी का काम चल तो नहीं सकता। ठीक है, लेकिन परिग्रह में लालसा का कहीं अन्त हो सकता है क्या? नहीं हो सकता। तीन लोक का भी वैभव मिल जाय तो भी लालसा का अन्त नहीं होता। इस मन से कुछ विचार कर लेने में कौनसी कठिनाई है? जरा विचार करें कि वैभव तो कितना भी हो पर उससे सन्तोष नहीं होता, अत: इस परिग्रह का परिमाण बनाना ही चाहिए। परिग्रह का परिमाण बना लिया। लोग सोचते हैं कि परिमाण तो बना लिया, जैसा मान लो एक लाख का परिमाण बना लिया, और वे हो जायेंगे जल्दी ही एक लाख पूरे, फिर अपना लाभ व्यर्थ ही छोड़ा जा रहा है लेकिन यहाँ सच्चाई यह है कि परिग्रह का संचय किसलिए करता है? जो लखपति है यह करोड़पति होना चाहता है, किसलिए कि दुनिया में मैं प्रथम धनिक कहलाऊँ, अपने आपकी महानता जाहिर करूँ। यदि धनसंचय करने का कोई और दूसरा कारण हो तो बतावो। तो अब परिग्रह का परिणाम कर लेने से देखिये परिग्रह के जोड़ते रहने का जो प्रयोजन है, उद्देश्य है उसमें कुछ फर्क नहीं पड़ता।

परिग्रह का मान लो परिमाण कर लिया, दो लाख का कर लिया तो दो लाख हो जाने के बाद फिर परिग्रह बढ़ाने की बात मन में न आयगी। पर परिग्रह का परिमाण कुछ नहीं है तो चाहे जितना धन संचित हो जाय पर तृष्णा का अन्त नहीं आता। परिग्रह परिमाण करने पर यह विधि रहती है कि जितना परिमाण किया उतना पूरा होने के बाद जो कुछ विशेष आय बने उसे दान कर देवे। तो अब देखिये कि दो

लाख का परिमाण करने वाले ने यों यदि दो लाख का दान कर लिया और दो लाख उसके हैं ही। इसके बाद यदि वह चार लाख का धनी बन जाय, उसमें दान करता तो इज्जत 4 लाख होने पर बढ़ती या दो लाख ही रहे। दो लाख दान में गए तो उसमें इज्जत बढ़ी। तो परिग्रह का परिमाण करने पर धनसंचय का प्रयोजन नष्ट नहीं होता। यश इज्जत प्रसन्नता चार आदमियों में सभ्यता से, समानता से बैठने का अवसर मिलना ये सब बातें परिग्रह परिमाण से बनती हैं। यों गृहस्थ परिग्रह परिमाण अणुव्रत का पालन करके अपने आपको मोक्षमार्ग के पथ से बराबर चलाये रहता है।

ज्ञानी गृहस्थ कुटुम्बियों के भरण पोषण के लिए सारे काम करता है पर उनमें रागभाव नहीं आने देता। देखो जिन जिनका भी संयोग हुआ है उनका वियोग नियम से होगा। यह असगुन की बात नहीं किन्तु एक तत्त्व की बात कही जा रही है। यदि संयोग के काल में बहुत प्रीतिपूर्वक रहे और कुछ भी वैराग्य न रहा तो बतलावो वियोग के काल में उसकी क्या स्थिति होगी? जब तक संयोग है तब तक भी यह ज्ञान जगाये रहें कि प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न है और किसी पदार्थ के आधीन कोई दूसरा नहीं है और जिनका समागम हुआ है उनका वियोग किसी क्षण किसी समय भविष्य में अवश्य होगा, ऐसा तत्त्वज्ञान जागृत रहे तो फिर वियोग के काल में विह्वलता न जगेगी। झट धैर्य होगा कि यह बात तो हम पहिले से ही जानते थे। यह तो एक संसार की ही रीति है। इसी प्रकार सौभाग्य भोग भोगसाधन ये भी इष्ट तत्त्व हैं। जब किसी-किसी समय सौभाग्य का विनाश होता है, भोग का भोगसाधन का विनाश होता है उस समय भी इस जीव को एक बहुत विह्वलता उत्पन्न होती है। तो यह ज्ञान बनाये रहें कि सौभाग्य तो एक कलंक है, पुण्य हो अथवा पाप हो, सभी प्रकार के कर्म तो जीव के कलंक हैं, जो इन समस्त कलंकों से दूर हो गये ऐसे, निष्कलंक सिद्ध अरहंत परमात्मा ही पूज्य ईश हैं। सौभाग्य के विनाश का अथवा भोग और भोग साधनों के विनाश का क्या खेद करना? ये तो बाह्यतत्त्व है। मैं आत्मासिद्ध समान तथा प्रभु समान अनन्त ज्ञान का ऐश्वर्य का अधिकारी हूँ। ये सब मिली हुई बाहरी बातें मेरे लिए कुछ नहीं हैं, ऐसा जानकर उनमें इष्ट अनिष्ट की बुद्धि न बनायें। इष्टवियोग होने पर शोक करना इष्टवियोगज आर्तध्यान है। इसमें खोटे ध्यानों का वर्णन चल रहा है, इन ध्यानों में रहते हुए आत्मध्यान नहीं बन सकता और न आत्मोद्धार का कोई उपाय बन सकता।

श्लोक-1202

दृष्टश्रुतानुभूतैस्तै: पदार्थैश्चित्तरञ्जकै:।
वियोगे यन्मन: खिन्नं स्यादार्त्तं तद्द्वितीयकम्।।1202।।

ऐसे पदार्थ जो कभी देखे अथवा सुने गए अथवा अनुभव में आये हैं उन पदार्थों का वियोग होने से मन को जो खेद होता है उसको आर्तध्यान कहते हैं। आत्मा के लिए सारभूत हितरूप केवल आत्मा के सिद्धि सहजस्वभाव का अनुभवन है। इसके अतिरिक्त आत्मा का कोई शरण नहीं है, सारभूत नहीं हैं, हितरूप नहीं है। इस धनवैभव, परिजन, इज्जत, पोजीशन इत्यादि में कहीं कुछ भी सार का नाम नहीं है। कदाचित् यहाँ के कुछ लोगों ने बड़ा कह दिया, भला बता दिया तो वह भी है क्या? संसार के दु:खी प्राणी हैं उनकी स्यावाशी का अभ्र क्या है? अपने आपमें अपने कल्याण की बात निरखना चाहिए। तो जो देखा गया है, सुना गया है, भोगा गया है अथवा अनुभव किया गया है, इन तीन प्रकार के भोगों में ही तो जीवों की प्रतीति होती है। देख लिया तो मन में वासना बन जाती कि ऐसा मुझे भी होना चाहिए। किसी के पास कार है तो मेरे पास भी होना चाहिए। किसी के पास बड़े-बड़े आराम ये साधन हैं तो वैसे मेरे पास भी होना चाहिए। इन दिखने वाले भोगसाधनों में इस जीव के लालसा उपजती है और यह दु:ख के मार्ग में चला जाता है। कोई बात सुनता है तो सुनकर भी तृष्णा जगती है। कोई बात अनुभव में आती हे, कुछ रसीले भोजन कर लिया तो उसमें लालसा बढ़ जाती है कि ऐसा मुझे भी खाना चाहिए। तो देखे गए, सुने गए, अनुभव किए गए भोगों में लालसायें बढ़ती हैं और वे कदाचित् प्राप्त हो जायें तो कभी वियोग का भी समय आता हे तो उस वियोग के समय में इस जीव को बड़ी विह्वलता बढ़ती है। बम्बई में कोई बड़ा ऊँचा गणित का प्रोफेसर था। उसे अपनी स्त्री में इतना अनुराग था कि जब स्त्री मंदिर जाये तो वह उस पर छतरी लगाये रहता था। इतनी कोमल थी वह कि कहीं धूप न लग जाय। तो स्त्री ने समझाया कि इतनी अधिक प्रीति का फल बुरा होगा, हमारे मरने पर फिर तुम्हारी क्या स्थिति होगी? तुम्हारा चित्त वश न रहेगा, उन्मत्त हो जावोगे। और, हुआ भी ऐसा ही। जब स्त्री का वियोग हुआ तो ऐसा उन्मत्त बन गया कि उसके फोटो को लिए रहे और उस ही फोटो से बातें करे। एक बार बनारस में कोई एक धर्मशाला में ठहरा था। बगल के ही कमरे में चिरोंजा बाईजी भी रहती थी जिन्होंने बड़े वर्णी जी को पढ़ाया था। जब वह उस फोटो से कुछ बातें कर रहा था— अभी रोटी नहीं बनाओगी, भूख लग रही है आदि, तब बाईजी ने उसके पास जाकर पूछा कि तुम किससे बातें कर रहे हो? तुम्हारे पास तो कोई नहीं है। तो उसने सारा किस्सा सुनाया। तो यहाँ जिस जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग नियम से होगा। आप सच समझिये कि संसार में बाहरी कोई भी पदार्थ आत्मा के लिए हितरूप नहीं है, सब भिन्न हैं। उनमें आसक्ति करना यह अन्त में क्लेश का ही कारण बनता है। अत: इष्टवियोगज आर्तध्यान से बचना है तो अभी से यह तपश्चरण किया जाय कि समागम को क्षणिक मान लें। यह तो क्षण भर का समागम हे, ये सभी बिखरेंगे, ऐसा निरखते रहें तो भविष्य में इष्टवियोगज आर्तध्यान न भोगना पड़ेगा। तो इन चित्तरंजक इष्ट पदार्थों का जब वियोग होता है तो मन में बड़ा खेद उत्पन्न होता है। उस खेदखिन्नता में इष्टवियोगज नाम का आर्तध्यान होता है। पहिले तो था अनिष्टसंयोगज, अनिष्ट चीज का संयोग होने पर दु:खी हो रहा था, जिससे मन न मिले उससे चित्त चाहता हे कि यह यहाँ से हट जाय।

अनिष्टसंयोग में भी वेदना होती है इस जीव को और अब इष्टवियोग में भी यह पुरुष ऐसा भूल वाला हो जाता कि अपने आत्मा का उद्धार करने योग्य नहीं होता। यों खोटे ध्यानों को तो तजना चाहिए और देव, शास्त्र, गुरु का अनुराग ऐसे-ऐसे विशिष्ट ध्यानों में अपनी परिणति करना चाहिए तो आत्मा का अवसर मिलेगा और मोक्षमार्ग में लगना आगे बढ़ता रहेगा।

श्लोक-1203

मनोज्ञवस्तुविध्वंसे मनस्तत्संगमार्थिभि:।
क्लिश्यते यत्तदेतत्स्याद्द्वितीयार्त्तस्य लक्षणम्।।1203।।

मनोज्ञवस्तु का विध्वंस होने पर उस वस्तु के संगम की चाह करने वाले लोग क्लेश करते हैं, मन संक्लेश में होता है ऐसे पीड़ारूप ध्यान को इष्टवियोगज नामक आर्तध्यान कहते हैं। अब इसमें ध्यान का स्वरूप साक्षात् बताया जा रहा है। पहिले तो इसका प्रभाव इसके बिना होने वाले कष्ट, विडम्बनाएँ, इनका उपाय ध्यान करने वाले की प्रशंसा, ये सब वर्णन हो चुके, अब ध्यान का ही स्वरूप चल रहा है जिसमें प्रथम यह बताया जा रहा कि दो प्रकार के ध्यान आर्त और रौद्र वे आत्मध्यान के विघातक हैं। ध्यान तो ये भी हैं, पर ये संसार के मार्ग हैं और आत्मध्यान से विमुख करने वाले हैं। इष्टवियोगज आर्तध्यान और अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान, दो ये हैं। अब वेदनाप्रभव आर्तध्यान का स्वरूप कहते हैं।

श्लोक-1204

कासश्वासभगन्दरोदरजराकुष्ठातिसारज्वरै:,
पित्तश्लेष्ममरुत्प्रकोपजनितैरोगै: शरीरान्तकै:।
स्यात्सत्त्वप्रबलै: प्रतिक्षणभवैर्यद्व्याकुलत्वं नृणां,
तद्रोगार्त्तनिन्दितै: प्रकटितं दुर्वारदु:खाकरं।।1204।।

वात पित्त कफ प्रकोप से उत्पन्न हुए जो रोग हैं जो शरीर को नाश करने वाले हैं, बड़े प्रबल हैं, क्षण-क्षण में उत्पन्न होते हैं ऐसे जो श्वास आदिक अनेक राग हैं, उन रोगों से जो मनुष्यों के व्याकुलता होती है उसे रोग पीड़ा, चिन्तन नाम का आर्तध्यान कहा है। जहाँ तीन की समता है— वात पित्त कफ, वहाँ तो

शरीर की स्वच्छता है और जहाँ इन तीनों में विषमता हुई वहाँ शरीर में रोग हुआ। यही हालत आत्मा की है— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। इन तीन की जहाँ एकता है वहाँ तो शान्ति का मार्ग है और जहाँ अविषमता है, अपने स्वभाव से, स्वरूप से चलित हो जाता हैं वहाँ संसार की अनेक विडम्बनाएँ होती हैं। जो वात पित्त कफ के प्रकोप से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं और नाड़ी से उन्हीं वात पित्त कफ के प्रकोप का अनुमान किया जाता है। वात नाम है वायु का। जो शरीर में वायु है जो बढ़ जाय पेट में, शूल का रोग बढ़ जाय वह वायु प्रकोप है। वायु का प्रकोप हो जाय, पेट फूल जाय, बेचैनी बढ़ती है, और उस वायु का धक्का लगने से हार्ट तक फैल हो जाता है। तो वायु शरीर के लाभ के लिए है, कम्पित हो जाय तो वही वायु शरीर के विनाश के लिए है। पित्त में गर्मी बढ़ती है और पित्त सम्बंधी अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। कफ में ठंढक बढ़ती है और कफ सम्बंधी रोग उत्पन्न होते हैं। कफ के प्रकोप से जहाँ वायु कम्पित हो जाता है वहाँ सन्निपात हो जाता है। सन्निपात बड़ा कठिन रोग है। यों वात पित्त कफ की असमता से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। तो उस समय मनुष्य के जो पीड़ा होती है, जो चिन्तन होता है वह है वेदनाप्रभव नाम का आर्तध्यान। रोग तो जो भी हो वही पहाड़ सा दिखता है। फोड़ा-फँसी तो एक साधारण सी बात मानी जाती है पर वह भी एक पहाड़ जैसा दिखता है। ये फोड़ा-फुँसी तो किसी नस पर ही हुआ करते हैं। जब उस फोड़ा-फुँसी की वेदना नहीं सही जाती है तो ऐसा कहते हुए लोग पाये जाते हैं कि इस फोड़ा-फँसी की वेदना से तो बुखार की ही वेदना ठीक थी। इस फुँसी की वेदना तो नहीं सही जा रही है। कहीं पसीना बहुत आया, मैल जम गया तो उससे जो खाज होती है उस खाज के खुजाने में जो पीड़ा होती है वह पीड़ा भी इन प्राणियों को बड़ी कठिन वेदना करने वाली दिखती है। फिर रोग है कितने, करोड़ों की गिनती में हैं, उन रोगों में जो पीड़ा वेदना होती है उस समय का जो चिन्तन है उसे रोगपीड़ाचिन्तन नामक ध्यान कहते हैं। बड़े-बड़े पुरुष बड़े-बड़े उपसर्गों को सह सकने का जिन्होंने अभ्यास नहीं किया है वे रोगों में विचलित हो जाते हैं।

श्लोक-1205

स्वल्पानामपि रोगाणां माभूत्स्वप्नेपि संभवः।
ममेति या नृणां चिंता स्यादार्तं तत्तृतीयकम्।।1205।।

इस रोग पीड़ा चिन्तवन नामक आर्तध्यान में कैसी बुद्धि उत्पन्न होती है कि उसके किञ्चित भी रोगों की उत्पत्ति स्वप्न में भी नहीं होती, ऐसा चिन्तन होना और न होने देने के लिए एक शोक और चिन्ता बनाये रहना यह तृतीय आर्तध्यान है। अध्यात्म दृष्टि से सोचिये तो यह जो शरीर का ढांचा मिला है यह

महारोगी है। यह बिस्तर रोगों से भरा है। इसे बिस्तर क्यों माना गया? बिस्तर से केवल बिस्तर की ही बात नहीं है। बिस्तर उनके होता है जिनके बड़े-बड़े ठाठ-बाट हैं, आराम के साधन है। जो निष्परिग्रह हैं, त्यागी लोग उनके पास कहाँ बिस्तर है? तो यह शरीर बिस्तर महारोगी है। कहाँ तो यह अमूर्त आत्मा आनन्दमय था, अपने आपके स्वरूप के प्रकाश से सदैव पवित्र था, अब लग गया यह संग बिस्तर। इसके लगने पर भ्रम बढ़ा, यह मैं हूँ, और जब शरीर को माना कि यह मैं हूँ तो उसकी फिर यह रक्षा करता है। लोग ऐसी भावना करते हैं कि स्वप्न में भी कभी मेरे शरीर में रोग न उत्पन्न हो।

श्लोक-1206

भोगा भोगीन्द्रसेव्यास्त्रिभुवनजयिनी रूपसाम्राज्यलक्ष्मी
राज्यं क्षीणारिचक्रं विजितसुरवधूलास्यलीलायुवत्य:।
अन्यच्चानन्दभूतं कथमिह भवतीत्यादि चिन्तासुभाजां
यत्तद्भोगार्त्तमुक्तं परमगुणधरैर्जन्मसन्तानमूलं।।1206।।

अब निदान नाम का आर्तध्यान कहा जा रहा है। बड़े-बड़े देव जो धरणेन्द्र इन्द्र के द्वारा सेवन किए जाते हैं, इनके उपवन को बचाने वाली रूप साम्राज्य की लक्ष्मी है जिसकी इच्छा करना सो निदान नामक आर्तध्यान है। इच्छा, आशा, प्रतीक्षा, अभिप्राय इनसे बड़ा कष्ट होता है और ये सब निदान के ही रूपक हैं। वैसे निदान की यह परिस्थिति है कि परभव में मुझे स्वर्ग लाभ प्राप्त हो देवेन्द्र धरणेन्द्र आदि के पद प्राप्त हों, वे सब निदान ही तो हैं। किसी भी परवस्तु की चाह होना यह सब निदान है। परलोक के लिए चाह करना सो निदान है, इस लोक के लिए चाह करना सो भी निदान है। इस भव में मुझे वैभव, इज्जत आदिक की प्राप्ति हो, ऐसी चाह करना सो निदान है। इस निदान से क्लेश ही होता है, भले ही शेखचिल्ली जैसा सोच सोचकर मौज मान लिया जाता हो, यों करूँगा फिर यों करूँगा। प्रथम तो ऐसी इच्छा करते हुए में भी उसे सुख नहीं है। लेकिन उस मौज को भी मान लीजिए तो उसका भंडाफोड़ क्षणभर में हो जाता है। एक मनुष्य को स्वप्न आया कि रास्ते में यह दो हजार रुपये की थैली पड़ी है, चाँदी के रुपये हैं, इसे ले लें। उसका वजन था 25 सेर का। तो स्वप्न में उस पुरुष ने उसे अपने कंधे पर रख लिया और चल दिया। चलते-चलते कंधा दु:खने लगा। उस दु:ख में ही उसकी नींद खुल गयी। जब नींद खुली तो तुरंत थैली को ढूँढ़ने लगा। कहाँ गई वह थैली? अरे वह तो स्वप्न की बात थी, लेकिन स्वप्न में भी जो वह कल्पना लगा बैठा था उससे सचमुच कंधा दर्द करने लगा। तो यह निदान भी एक महाविडम्बना है।

अपने स्वरूप की खबर हो और सबसे निराला ज्ञानमात्र यह मैं आत्मा हूँ मेरा कार्य केवल ज्ञानज्योति है, इस प्रकार पर से न्यारे केवल अपने आपमें परिणति करते हुए उपयोग बने तो वह तो है जीवन की सफलता की निशानी और इसके विरुद्ध जो कुछ हो रहा है जिसमें हम मौज कल्याण समझते हैं वह सब इसके लिए अनर्थ है। तो निदान अनर्थ है और निदान से कुछ सिद्धि नहीं। ऐसा कोई सोच ले कि मैं देवेन्द्र बन जाऊँ तो सोचने से बन गया क्या? हाँ इतना हो सकता है कि तपश्चरण, वैराग्य, पुण्य तो बहुत हो और मांग ले थोड़ी बात तो मिल जायगी। जैसे धनवैभव तो अधिक हो और किसी समस्या में किसी से थोड़ा मांग ले तो उसका मिल जाना सुगम है। तो निदान में सब बातें हो जायेंगी तो भी सफलताएँ नहीं हैं। मिलना तो बहुत था पर थोड़ा मिल गया। यों इस निदान में कोई सिद्धि नहीं है। अपना वैसा परिणाम बने, सबसे निराले अपने आपके ज्ञानस्वरूप को निहारने का उपयोग बने, किसी परपदार्थ से किसी भी प्रकार की वाञ्छा न रखें, अपने आपका दर्शन सुगम होता रहे ऐसी परिणति होती है तब उसे शान्ति प्राप्त होती है, अन्यथा बाहरी वस्तुवों के सम्पर्क में तो इस जीव को परेशानी ही परेशानी है। पर और ईशान ये दो शब्द हैं। ईशान का अर्थ है मालिक, पर का मालिक बनना ऐसा जो अपना भाव रखता है उस मनुष्य का नाम है परेशान। किसी परवस्तु के सम्पर्क में कुछ हित नहीं है, अहित ही है, क्लेश ही क्लेश है, फिर भी यह प्राणी बाह्य वस्तुवों से विमुख होकर अपने आत्मा में मग्न होने की धुन तक भी नहीं बनाता। ये सब निदान के सताये हुए लोग बाह्य पदार्थों की ओर दृष्टि रखकर अपने आपको आकुलित बनाये चले जा रहे हैं। यह है निदान नाम का चतुर्थध्यान आर्तध्यान। इन्द्र धरणेन्द्र आदिक भोगों की चाह करना, दुनियाभर में जो अनुपम रूप हो, ऐसे रूप की चाह करना तथा क्षीण हो गये हैं शत्रु के समूह ऐसे राज्य की वाञ्छा करना और देवांगनाओं के नृत्य में वचनालाप में रहने की चाह करना, इस प्रकार के चिन्तवन को आचार्यदेव भोगार्थ नाम का चौथा आर्तध्यान कहते हैं। योगसाधनों की बाधा से दु:खी होने का नाम आर्तध्यान है। लोग जानते हैं कि क्या-क्या विचार करते जाते हैं और बनता है उसका क्या, इच्छा करना व्यर्थ है। अध्यात्म दृष्टि से देखा जाय तो जिस काल में इच्छा है उस काल में क्लेश है और समीप में भोग नहीं है। समीप में भोग साधन हो तो इच्छा फिर किसकी करें? जैसे जिसके हाथ में 100 रु. हैं, क्या वह यह इच्छा करेगा कि मुझे 100 रु. मिल जायें? जो कुछ प्राप्त है उसकी वाञ्छा नहीं होती है। तो जिस समय वाञ्छा है उस समय चीज प्राप्त नहीं है और जिस समय चीज प्राप्त है उस समय उसके भोगने की वाञ्छा नहीं रहती। यद्यपि भोगने के समय में भी इच्छा चलती है मगर जो भोग भोगा जा रहा है उसकी नहीं, अब अन्य भोगसाधनों की इच्छा करने लगता है। इच्छा का विषय था भोगसाधन, वह इच्छा के समय प्राप्त हुआ नहीं। तो फिर उस इच्छा से सफलता क्या हो? इच्छा करना बिल्कुल व्यर्थ ही तो रहा।

जैसे कोई गरीब आदमी है, उसके जब तक दाँत थे तब तक चने नहीं जुड़े और जब चने जुड़े तो दाँत न रहे। वह बेचारा गरीब अपने जीवन भर चने न चबा सका। यह बात है इच्छा की और भोगसाधनों

की। तो यह इच्छा कभी भी सफल न हो सकी। किसी भी मनुष्य की इच्छा जो भी की जा रही हो वह सफल नहीं होती। उस इच्छा से व्याकुलता हो रही, बेचैनी हो रही। कोई साधु शहर के बाहर जंगल में चातुर्मास कर रहे थे तो एक सेठ जी जो कि बहुत ही भक्त पुरुष थे उन्होंने सोचा कि चार माह तक हम महाराज के पास इसी जंगल में रहें और महाराज की खूब सेवा करें। सों क्या कि घर में जो कीमती सामान था सोना, चाँदी, हीरा, जवाहरात का उसे निकालकर एक हंडे में भरा और उसी जंगल में एक पेड़ के नीचे गाड़ दिया। अब वह सेठ रात-दिन उसी जंगल में रहे। जब चातुर्मास समाप्त हो गया तो महाराज तो विहार कर गए, वहाँ क्या हुआ कि उस सेठ के पुत्र ने कभी किसी तरह से उस हंडे को देख लिया था, सो उसे वह खोद ले गया था। उस सेठ ने समझा कि इसमें तो महाराज का हाथ मालूम होता है क्योंकि उनके सिवाय यहाँ और कोई न रहता था। सो झट महाराज के पास पहुँचा और वहाँ ऐसी-ऐसी कथायें कहानियाँ कहीं कि जिनमें यह बात टपकती थी कि हमने तो चार माह तक महाराज की बड़ी सेवा की, फिर भी हमारा कीमती वस्तुवों से भरा हुआ हंडा गायब कर दिया। महाराज ने भी कुछ ऐसी कथायें कहानियाँ कहीं कि जिनमें यह बात भरी थी कि अरे सेठ तेरा अनुपकारी कोई और होगा, मेरे प्रति तो तुझे केवल भ्रम है। तो यह सब क्या है? निदान ही तो है। परभव की बात विचारना सो निदान है और इस भव के साधना में मन लगाना सो भी निदान है। तो इस निदान के कारण इस जीव को निरन्तर परेशानी रहती है। जगत में कोई वस्तु चाहने के योगय नहीं है। हमारा साथी यहाँ है कौन? सिर में पीड़ा हो जाय तो क्या कोई उसे बाँट सकता है? कोई नहीं बाँट सकता। तो यहाँ किसे साथी माना जाय? प्रत्येक जीव स्वयं है, किसी का किसी से कुछ सम्बंध नहीं है, सब एक दूसरे से अपरिचित है, फिर भी उनके प्रति मोह रखना, उस ही धुन में निरन्तर बने रहना, विकल्पों से हटकर अपने को बोझरहित अनुभव न करना, ये सब तो इस नरभव को निष्फल बनाने की निशानी हैं। निदान, आशा, इच्छा ये सब व्यर्थ के दुर्गुण हैं जिससे जीव को परेशानी रहती है। अगर उदय अनुकूल है तो इस वैभव की प्राप्ति होती है, लेकिन उस भव में यदि आसक्ति हो, इच्छा हो तो वैभव मिलने के बाद भी वह दु:खी है, परेशान है, तो ये चारों प्रकार के आर्तध्यान इस जीव को क्लेश देने वाले हैं। उन दुर्ध्यानों से हटकर आत्मध्यान में लग सकें तो हम आपकी भलाई है। उसमें ही तत्त्वज्ञान और वैराग्य बनता है। यह तत्त्वज्ञान और वैराग्य सत्संग से हुआ करता है। तो सत्संग में रहकर तत्त्वज्ञान और वैराग्य की पुष्टि करें, और इन ही के द्वारा हम अपने आपको शान्त कर ले।

पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्ञिनेन्द्रामराणां,
यद्वा तैरेव वांछत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात्।

श्लोक-1207

पूजासत्कारलाभप्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पै:
स्यादार्त तन्निदानप्रभवमिह नृणां दु:खदावोग्रधाम।।1207।।

जो जीव तीर्थ करके अथवा देवों के पदों की वाञ्छा करता है अथवा शत्रुसमूह के उच्छेदन की वाञ्छा करता है या अपने पूजा प्रतिष्ठालाभ आदिक की वाञ्छा करता है तो वह निदानजनित आर्तध्यान करता है। वह ध्यान भी जीवों को दु:खरूपी अग्नि का तीव्र साधन है। तीर्थंकर का पद पुण्य आचरणों के समूहों से भरा हुआ है। उसकी वाञ्छा करना भी निदान है। प्रथम तो यह है कि तीर्थंकर के बाहरी बातों के अतिशय जानकर इच्छा किया करते हैं और कदाचित् कोई तीर्थंकर का स्वरूप भी जाने और फिर भी वाञ्छा रखे कि मैं तीर्थंकर होऊँ तो वह भी निदान की बात है। मैं संसार से मुक्त होऊँ, कर्मों से छूटूँ, यह परिणाम तो एक सामान्यपरिणाम है। वह साधारण मुनि रहकर भी मिल सकता है और उत्कृष्ट साधु अवस्था में सब एक समान है, पर तीर्थंकर पद तो एक अतिशय चमत्कारों से भरा हुआ इस लोक का पद है। उस पद के पाने की वाञ्छा करे, उसका वैक्रियक शरीर है, कई-कई पखवारे में उनके श्वास आती हैं, भूख हजारों वर्षों में लगती है, उनका शरीर निरोग रहता है, असंख्याते वर्षों की उनकी आयु है। यह सब जानकर जो उस पद की वाञ्छा करता है सो भी निदान है। अब निदान करते समय जीव को आकुलता रहती है, क्योंकि इच्छा करने का फल आकुलता है। मोक्ष की भी इच्छा हो तो उस इच्छा करने से मोक्ष नहीं होता। भले ही मोक्ष की इच्छा करना भला है, पर इच्छा करने से मोक्ष की प्राप्ति हो सो बात नहीं है। फिर सांसारिक पद तीर्थंकर, इन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदों की इच्छा करना निदान है। दु:ख का ही देने वाला है। यह तो साधारणसी बात है। कोई लोग तो ऐसी इच्छा कर डालते हैं कि मैं अमुक सेठ का लड़का बन जाऊँ। कोई सेठ बड़ा प्रतापी हो, कोमल हो, उसके बड़े आराम को देखकर कोई चाहे कि मैं इस सेठ का लड़का बन जाऊँ तो यह निदान है। होना न होना निदान के आधीन बात नहीं है। कोई पुण्य तो हो बड़ा और निदान छोटा बाँध ले तो बात बन भी जाती है, सो भी बन गयी, निदान करने से बनी हो सो बात नहीं है। तो निदान के समय में आकुलता रहती है और उसके फल में कोई हीन अवस्था ही मिलती है, उत्कृष्ट अवस्था नहीं मिलती। निदान न करता हो तो उसे बहुत उत्कृष्ट स्थिति मिल सकती है। शत्रुसमूह को जड़मूड़ से उखाड़ देने की वाञ्छा अथवा अपनी पूजा प्रतिष्ठा लाभ आदि की याचना करना यह सब निदान है। निदान मुख्यतया अज्ञान अवस्था में होता है, पर कदाचित् सम्यक्त्व जग जाने पर भी गृहस्थ अवस्था में शुभ निदान सम्भव है। जैसे मैं विदेह में उत्पन्न होऊँ, कर्म काटकर मुक्त हो जाऊँ या ऐसी बात जो एक मुक्ति से सम्बंध रखती हो उनकी वाञ्छा करना वह प्रशस्त निदान कहलाता है, पर जो वह निदान है, अप्रशस्त है वह अज्ञान अवस्था में बनता है,

ज्ञान हुआ कि मैं आत्मा अपने स्वरूप मात्र हूँ और इसका स्वभाव एक केवल ज्ञाता द्रष्टा रहने का है, तो इस ही के निकट बसने की उसकी परिणति बन जायगी क्योंकि समस्त पदार्थ असार जँचते हैं तो वहाँ उसकी धुन बन सकती है। यह तो है एक मार्ग की बात। इसमें चाहा कुछ बन गया, पर कदाचित् सभी बातें चाहे मुझे आगे भी धर्म का समागम मिले; देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति मिले, साक्षात् तीर्थंकर के दर्शन मिलें ऐसी बात कदाचित् उठ भी जाती है लेकिन यह भी ठीक नहीं है। तत्त्वज्ञानी जीव तो अपने स्वरूप में ही उपस्थित होता है। आत्मस्वरूप का आलम्बन त्यागकर बाह्य पदार्थों में आकर्षण बनना सो सब निदान नामक आर्तध्यान है।

श्लोक-1208

इष्टभोगादिसिद्धयर्थं रिपुघातार्थमेव वा।
यन्निदानं मनुष्याणां स्यादार्त्तं तत्तुरीयकं।।1208।।

इष्ट भोगों की सिद्धि के लिए और शत्रु के घात के लिए जो निदान होता है वह भी चौथा आर्तध्यान है। कोई क्रोध में जल रहा है, तो कोई चाह में जल रहा है, कोई दोनों जगह जल रहा है। क्रोध का तो लोगों को पता नहीं पड़ता। तो चाह और क्रोध दोनों ही समान अग्नि हैं, बल्कि यों कहो कि चाह की आग प्रबल है। इच्छा में ही बना रहे उपयोग तो उसे कोई स्वरूप समझ में नहीं आता। तो अपने भोगों की सिद्धि के लिए चाह करना अथवा शत्रु के घात के लिए चाह करना वह सब निदान है। जिससे बैर हो जाय जो अपना अनिष्ट जँचे उसको समूल नष्ट करने की अज्ञानी जीव भावना करते हैं और जगह-जगह भटकते हैं, मंत्र पूछते हैं, साधना करते हैं कि मेरे इस शत्रु का विनाश हो। तो ऐसी जो धुन बनी है, चाह बनी है वह भी आर्तध्यान है।

श्लोक-1209

इत्थं चतुर्भिः प्रथितैर्विकल्पैरार्त्तं समासादिह हि प्रणीतम्।
अनन्तजीवाशयभेदभिन्नं ब्रूते समग्रं यदि वीरनाथ:।।1209।।

यहाँ चारों भावों से विस्तार से आर्तध्यान का स्वरूप बताया है। इस आर्तध्यान को अगर जीवों के आशय के भेद से बताया जाय तो वे असंख्याते भेद हो जाते हैं, उसे बताने में कोई समर्थ नहीं। वीर प्रभु उन्हें जान जायें और बोलते होते तो बता देते कि तुम्हारे अनगिनते प्रकारों के आर्तध्यान होते हैं। यहीं देख लो कितने मनुष्य हैं, सब दु:खी हैं और किसी एक का दु:ख किसी दूसरे के दु:ख से नहीं मिलता। कोई मोटे रूप से कह भी दे कि अमुक भी अपने पुत्र के मरने से दु:खी है और अमुक भी अपने पुत्र के ही मरने से ही दु:खी है तो दोनों का दु:ख एक जैसा है, पर ऐसा नहीं है। किसी का किसी प्रकार का विकल्प है किसी का किसी प्रकार का। भिन्न-भिन्न प्रकार के विकल्प करके वे दु:खी हो रहे हैं। उन दु:खों में भी समानता नहीं है। कितने आशयभेद हैं, कितने प्रकार के दु:ख हैं वे सब आर्तध्यान ही तो हैं। ये आर्तध्यान 4 भाँति के यहाँ बताये तो हैं पर उन चार भाँति के आशय भेदों का विस्तार बन जाय तो अनगिनते विस्तार बन जायेंगे, भेद बन जायेंगे। जब पाण्डव तपश्चरण कर रहे थे, अर्जुन, भीम युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव बड़े उपसर्गों पर विजय भी कर रहे थे, वहाँ नकुल, सहदेव को अपने भाइयों पर जो हो गया, लो इस तरह का विकल्प हो गया। वह भी तो दु:ख ही है। उन्होंने भी यह आर्तध्यान बना लिया। किसी का दु:ख किसी के दु:ख से मिलता नहीं है, तो ये आर्तध्यान चार ही प्रकार के नहीं। ये अनेक प्रकार के होते हैं। ऐसी भावना भावें कि हे भगवन् ! विकल्पों से पिटे तो जा रहे हैं, पिटते भी रहें और आपकी भी सुध बनी रहे। कोई तो समय आयगा ही जब कि पिटना समाप्त भी हो सकता है। धर्मधारण करने के लिए कोई ऐसा प्रोग्राम बनायें कि दो वर्ष के बाद अमुक काम करके फिर धर्म ही धर्म करेंगे, अभी दो वर्ष तक तो खूब कमाई कर लें, सारी व्यवस्थायें बना लें, ऐसा सोचने वाला व्यक्ति तो धर्म धारण कर सकता है, अगर धर्म धारण की दृष्टि बनी है तो उसकी किरण अभी से आना चाहिए। चाहे थोड़ी आये चाहे किसी रूप में आये, उससे तो आशा है कि वह आगामी काल में प्रभुशक्ति, आत्मउपासना, धर्मसाधना कर सकेगा। तो ये आर्तध्यान अनेक प्रकार के कहे गए हैं और उनकी जड़ अज्ञान है। अपने आत्मा के स्वरूप का भाव न हो, प्रभु के स्वरूप की पहिचान न हो तो यह बात मिलती है।

श्लोक-1210

अपथ्यमपि पर्यन्ते रम्यमप्यग्रिमक्षणे।
विद्धयसद्धयानमेतद्धि षड़गुणस्थानभूमिकम्।।1210।।

हे आत्मन् ! यह आर्तध्यान प्रथम क्षण में रमणीक है पर अन्त में क्लेश के ही देने वाला है, ऐसे इस अप्रशस्त ध्यान का निदान करते हैं, इच्छा करते हैं तो इच्छा सुहावनी लग रही है लेकिन उसका अन्त में परिणाम जीव को क्लेशकारी ही बनेगा। सो आचार्यदेव सम्बोधित कर रहे हैं कि हे आत्मन् ! कोई-कोई आर्तध्यान प्रथम क्षण में रमणीक लगेंगे लेकिन उनका अन्तिम परिणाम खोटा ही है, ऐसे इस तथ्यभूत ध्यान को जान। ये आर्तध्यान छठे गुणस्थान तक होते हैं। एक निदान नाम का आर्तध्यान भी नहीं होता, मगर होने लगे तो छठे गुण स्थान के परिणाम नहीं रहते हैं। प्रशस्त ध्यान भी, निदान भी लगे तो वह मुनि की भूमिका नहीं रही, वह तो श्रावक की भूमिका रही। मुनि भेष में न रहना ही श्रावक नहीं कहलाता है, वह तो एक अन्तरङ्ग परिणामों की बात है। हाँ यह बात है कि छठे-सातवें गुणस्थान के लायक परिणाम हो तो वह मुनि है और चाहे निर्ग्रन्थ ही हो पर चौथे, तीसरे, दूसरे, पहिले गुणस्थान के लायक परिणाम हों तो वह मुनि नहीं कहला सकता है। तो जब तक निदान की बात रहेगी, मैं उत्कृष्ट पद पाऊँ, अमुक जगह मेरा जन्म हो, बड़े ठाठ-बाटों की चाह होना आदिक ये सब निदान हैं। इष्टवियोग, अनिष्टवियोग, वेदनाप्रभव ये तीन आर्तध्यान छठे गुणस्थान में भी सम्भव है। कोई मुनि जो बच्चों वाला है वह यदि पुत्र के मर जाने पर वियोग करे तो वह तो एक मोह की भूमिका है, वह तो मुनिपद से बिल्कुल विचलित हो गया। कोई बुद्धिमान और शान्तिपथ का प्रेमी शिष्य है और उसका वियोग हो रहा है तो उसके वियोग के समय कुछ पीड़ा मुनि को भी हो जाती है। फिर भी उसका गुणस्थान नहीं बिगड़ता। और कोई शिष्य अनुकूल नहीं चलता, अवहेलना करता है, बात नहीं मानता है, धर्म के विरुद्ध भी चलता है, परिस्थिति ऐसी है कि उसे एकदम हटा भी नहीं पा रहे, सामने मौजूद है, तो उस अनिष्ट संयोग से जो कुछ पीड़ा उत्पन्न हुई, जो मन में खेद आता है वह अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है। यह तक भी मुनि के सम्भव है। 7 वें गुणस्थान में नहीं है आर्तध्यान। शरीर में बहुत वेदना हुई, सहन पूरी तरह नहीं कर सकते, कुछ विकल्प भी हो जाते, ऐसा पीड़ा चिन्तन नामक आर्तध्यान भी मुनि के सम्भव नहीं है, पर अज्ञानी की तरह नहीं, तो ये तीन प्रकार के आर्तध्यान मुनि में भी सम्भव हैं।

श्लोक-1211

संयतासंयतेष्वेतच्चतुर्भेदं प्रजायते।
प्रमत्तसंयतानां तु निदानरहितं त्रिधा।।1211।।

यह आर्तध्यान संयतासंयत नामक 5 वें गुणस्थान पर्यन्त चारभावरूप रह सकते हैं। 5 वें गुणस्थान तक श्रावक को इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज, वेदनाप्रभव और निदान— ये चार ध्यान रह सकते हैं। प्रशस्त

और अप्रशस्त ये दो प्रकार के ध्यान हैं। प्रशस्त ध्यान क्या और अप्रशस्त ध्यान क्या? इन ध्यानों की जड़ तो मोह है पीड़ा है। कोई पुरुष कहीं चला जा रहा था। रास्ते में उसने देखा कि हाथी ने एक बच्चे को अपनी सूंड से उठाकर पटक दिया। उस लड़के की सूरत उसके ही लड़के की सूरत के समान थी। उसने समझा कि इस हाथी ने मेरे लड़के को मार डाला। इस भ्रम के कारण उसके इतनी पीड़ा उत्पन्न हुई कि वह बेहोश हो गया। उसके कुछ साथी लोग वहाँ पर मौजूद थे। उन्होंने इस दृश्य को देखा और समझ लिया कि यह पुरुष इस कारण से बेहोश हुआ। इसने समझा कि मेरे पुत्र को इस हाथी ने मार डाला। साथ ही अपने एक साथी को भेज दिया उस पुरुष के लड़के को लिवाकर लाने के लिए। जब वह पुत्र उस पुरुष के सामने आया और कुछ बेहोशी दूर हुई तो उसको चेत हो गया, खुश हो गया। तो वहाँ जो इतना बड़ा क्लेश था वह इस भ्रम का था कि वह लड़का मेरा है जिसको हाथी ने मार डाला है। तो इस मोह के कारण उसे क्लेश हुआ। उस हाथी द्वारा पटके गए पुत्र में जो मोह था वह मिट गया और वह शान्त हो गया। तो यों ही जितने प्रकार के आर्तध्यान हैं, सभी में लगा लें, अपना कारण रागद्वेषमोह है। इन तीन परिणामों से आर्तध्यान बनते हैं। तो ये मिटें कैसे? उन सबका मूल में उपाय तो इतना ही भर है— निज को निज पर को पर जान। अगर वास्तविक स्वरूप से, तत्त्व से निज कितना है और इसके अतिरिक्त पर कितना है? इसका विवेक जग जाय तो फिर उसे क्लेश नहीं हो सकता। है, पर है, हो गया परिणमन। जैसे दुनिया के अन्य सभी लोग जिनको गैर माना हैं वे पर हैं ऐसे ही आज जो कुछ प्राप्त हुआ है वह सब भी पर है। दुनिया के परपदार्थों को मानता है यह जीव कि ये मेरे हैं इस मिथ्या मान्यता के कारण इसे कष्ट रहा करता है। अपने आन्तरिक स्वरूप को निरखकर यह भाव बना लें कि यह मेरा शरीर भी पर है। इस मान्यता से फिर शरीर पर कुछ भी बीतो पर उससे क्लेश नहीं होता है। तो निज को निज पर को पर जान—यह बात यदि बन जाय तो फिर दु:ख का कारण नहीं रहा। वह आर्तध्यान फिर आर्तध्यान न रहेगा। अत: समस्त परवस्तुवों से निराले निज ज्ञानस्वरूप मात्र आत्मा को समझ जाये कि यह मैं हूँ, फिर उसके कोई क्लेश न रहेगा।

श्लोक-1212

कृष्णनीलाद्यसल्लेश्याबलेन प्रविजृम्भते।
इदं दुरितदावार्चि: प्रसूतेरिन्धनोपं।।1212।।

आर्तध्यान 3 खोटी लेश्यावों के बल से प्रकट होता है। आर्तध्यान के समय पीत, पद्म शुक्ल लेश्यावों का बल नहीं होता है और पीड़ारूप भाव रहता है, अनुभवन होता है वह अशुभ लेश्यावों में होता है।

कृष्णलेश्या में प्रबल क्रोध रहता है। बैर न छोड़े, बहुत गाली-गलौज बके, दया न रहे, ऐसी स्थिति वाले के आर्तध्यान हुआ करता है। नील और कापोत में उससे कुछ कम है और वहाँ भी विषयाकांक्षा नाम की इच्छा आदिक अनेक कुत्सित परिणाम होते हैं। तो इन अशुभ लेश्यावों का बल मिलने से यह आर्तध्यान बढ़ जाता है और जैसे दावानल अग्नि को जलाने में ईंधन कारण है, ईंधन मिल जाय तो अग्नि बढ़ती जायगी ऐसे ही पापरूपी दावाग्नि को उत्पन्न करने के लिए यह आर्तध्यान ईंधन के समान है। आर्तध्यान ज्यों-ज्यों होता है त्यों-त्यों पाप बढ़ते हैं। आर्तध्यान में हुए जैसे आत्मध्यान की सम्भावना नहीं है, और आत्मध्यान बिना मोक्ष का या शान्ति का उपाय नहीं बनता। अत: कल्याणार्थी पुरुषों को आर्तध्यान तजना चाहिए।

श्लोक-1213

एतद्विनापि यत्नेन स्वयमेव प्रसूयते।
अनाद्यसत्समुद्भूतसंस्कारादेव देहिनाम्।।1213।।

यह आर्तध्यान जीव को अनादि से स्वयं सहज बन जाता है। सहज का अर्थ यहाँ स्वभाव से नहीं, किन्तु सब उपदेश दिये बिना, धर्म किए बिना, कोई परिश्रम उठाये बिना, कोई यत्न किये बिना आर्तध्यान इस जीव के चल ही रहा है। आर्तध्यान उसे कहते हैं जिसमें क्लेश भोगने का परिणाम बने, खेद होना पड़े। दु:ख का बढ़ाने वाला जो ध्यान है वह आर्तध्यान कहलाता है। सो आर्तध्यान बिना ही यत्न के स्वसम्वेद्य हो रहा है। इसमें कारण यह है कि अनादि काल से खोटे संस्कार जीव में लग रहे हैं, अत: बिना बुद्धि के आर्तध्यान होता है। आर्तध्यान के लिए कोई कुछ सिखाता नहीं है। जहाँ इष्ट का वियोग हुआ बस क्लेश स्वयं होने लगता है, जहाँ अनिष्ट का संयोग हुआ बस क्लेश होने लगता है। कोई वहाँ सिखाता नहीं है ऐसे ही जहाँ शरीर में वेदना हुई, उसके प्रति चिन्तन हुआ वहाँ ही पीड़ा उत्पन्न होने लगती है। ऐसे ही आशा, इच्छा, निदान के परिणाम जीव में स्वयं संस्कारवश हो जाते हैं। इस आर्तध्यान से बचकर धर्मध्यान में लगकर ही शान्ति का मार्ग पाया जा सकता है। वह आर्तध्यान छूटेगा तत्त्वज्ञान से, विवेक से, भेदविज्ञान से।

श्लोक-1214

अनन्तदु:खसंकीर्णमस्य तिर्यग्गते: फलम्।
क्षायोपशमिको भाव: कालश्चान्तर्मुहूर्त्तक:।।1214।।

आर्तध्यान का फल क्या है? तिर्यञ्चगति मिलना। नरक गति से भी तिर्यञ्चगति खोटी मानी गयी है। हालांकि नरकगति में दु:ख बहुत हैं, मारा कांटा और वहाँ की भूमि में सर्वत्र क्लेश भरा है। होते तो वे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय ही ना, सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति वहाँ हो सकती है और तिर्यञ्चगति में एकेन्द्रिय बन गए, पेड़ हुए, पृथ्वी हुए, निगोद हुए अब इन्हें क्या सुध है? उनको कल्याण का अवसर नहीं है। तो तिर्यञ्चगति प्राप्त होना यह है आर्तध्यान का फल। जिसमें अनन्त दु:ख बसे हुए हैं वहाँ देखने में भले ही लगे कि यह वृक्ष खड़ा है, ये खूब हरे भरे हैं, ये खूब झूम रहे हैं, ये तो बड़े सुखी होंगे, पर उनका क्लेश वे ही जानें। पेड़ बड़े कष्ट का अनुभव कर रहे हैं। तिर्यञ्चगति में अनन्त दु:ख हैं, वह फल है आर्तध्यान का, और आर्तध्यान है क्षायोपशमिक भाव। ध्यान होना, इसमें तो कुछ ज्ञान भी चाहिए। तो आर्तध्यान क्षायोपशमिक परिणाम है, ज्ञानावरण क्षायोपशमिक हो, कुछ विज्ञान हो तो यह ध्यान बनता है, और जिसमें जितना क्षयोपशम विशेष है और उदय हो पाप का, मिथ्यात्व का तो उसके आर्तध्यान विशेष सम्भव है। यह आर्तध्यान क्षायोपशमिक परिणाम है, और इसका समय अन्तर्मुहूर्त है। अन्तर्मुहूर्त के बाद ध्यान बदल जाता है। एक विषय में ध्यान अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा नहीं टिकता। तो यह ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक रह पाता है। तो तिर्यञ्चगति का दु:ख मिलना यह आर्तध्यान का फल है।

शङ्काशोकभयप्रमादकलहश्चित्तभ्रमोद्भ्रान्तय:,
उन्मादो विषयोत्सुकत्वमसकृन्निद्राङ्गजाड्यश्रमा:।

श्लोक-1215

मूर्छादीनि शरीरिणामविरतं लिङ्गानि बाह्यान्यल-
मार्ताधिष्ठितचेतसां श्रुतधरैर्व्यावर्णितानि स्फुटम्।।1215।।

आर्तध्यान के बाह्य चिन्ह क्या हैं? जब आर्तध्यान होता है जीव के तो उसकी चेष्टा कैसी बन जाती है? ऐसे चिन्ह इस छंद में बताये जा रहे हैं। जिसको आर्तध्यान करने की प्रकृति है, जिसके आर्तध्यान अधिक बना रहता है उसको प्रथम तो शंका होती है। आर्तध्यान वाला हर जगह शंका का स्वभाव रखता है। कोई अनोखी बात न हो जाय, कोई गजब की बात न बीत जाय, यों आर्तध्यान का स्वभाव बना रहता है। पहिली बात तो यह है, दूसरी बात यह है कि जिसको आर्तध्यान की प्रकृति पड़ी है उसको शोक रहा करता है। देखो कैसी बातें इस जीव पर गुजर रही हैं। ज्ञान और आनन्द इस जीव का स्वाभाविक गुण है, पर जब ज्ञान

बिगड़ता है तो ऐसी-ऐसी कल्पनाएँ जगती हैं। जिसके आर्तध्यान की प्रकृति है उस पुरुष की बाह्य पहिचान क्या है? प्रथम तो उसे हर बात में शंका रहा करती है, इसके पश्चात् शोक होता है। आर्तध्यान में शोक की जगह प्रसन्नता नहीं मिल सकती, पश्चात् भय होता है। आर्तध्यान में भय की प्रमुखता है। इष्टवियोग न हो जाय ऐसा भय बनाये वहाँ ही आर्तध्यान है। किसी अनिष्ट का सम्बंध हो, उसका चिन्तन बने वह आर्तध्यान बनता है। आर्तध्यान करना जीव का स्वभाव नहीं है लेकिन जब जीव पर अज्ञान सवार है तो आर्तध्यान उसको होगा ही। स्वयं है आनन्द रूप। जैसे कोई पदार्थ बनता है तो किसी बाडी को लिए हुए होता हे ना? कुछ तो उसका स्वरूप है। जैसे पुद्गल का स्वरूप है रूप, रस, गंध, स्पर्श तो जीव का भी तो कुछ स्वरूप होगा। वह स्वरूप है ज्ञान और आनन्द। पुद्गल का तो ढेर मिलेगा, पिण्ड मिलेगा, कड़ापन है, और आत्मा में मिलेगा ज्ञान और आनन्द। केवल जानकारी इसका स्वभाव है और शुद्ध जानकारी रहे तो आनन्द बना रहे यह स्वभाव है, लेकिन जब अपने आपको असली रूप में नहीं माना गया, अन्य पर्यायरूप मान लिया गया तो इसको आनन्द की दृष्टि कैसे मिल सकती है? आर्तध्यान जगे तो आर्तध्यान वाले के भय बराबर बना रहता है। इसके पश्चात् उसके प्रमाद होता है। प्रमाद में शिथिल होने में वह क्लेश का अनुभव करता है। जब आर्तध्यान किया तो भीतर बाहर सब जगह थक गया यह जीव, क्योंकि कष्टरूप अनुभव न करने का बड़ा श्रम होता है। तो उस थकान में प्रमाद होता है। आर्तध्यान करने वाले पुरुष के चिन्ह बताये जा रहे हैं। आर्तध्यानी पुरुष क्या करता है? जब सहा नहीं जा सका तो वह क्लेश मानता, फिर चित्त का श्रम करता है। अर्थात् चित्त भ्रान्त रहता है, एक जगह चित्त टिक नहीं सकता, क्योंकि अन्तर में क्लेश है। और क्लेश है केवल भ्रम का। जैसे कोई सा भी क्लेश उदाहरण में ले लो। किसी भी प्रकार का क्लेश माना जा रहा हो तो भली प्रकार निरखोगे तो उसकी जड़ कुछ नहीं है। जड़ है केवल कल्पना की, किसी भी प्रकार का क्लेश हो कल्पना की जड़ पर ये सब क्लेश आधारित हैं। अपने सही स्वरूप का भान हो। मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानमात्र आत्मा हूँ ऐसा अपने आपके स्वरूप का भान हो वहाँ क्लेश का नाम नहीं रह सकता। स्वरूप से चिगे, बाहर कुछ खोजने लगे तो वहाँ क्लेश हो जाता है।

आर्तध्यान पुरुष का चित्त एक जगह लगता नहीं। कुछ पागलपनसा छा जाता है। कितनी ही बुढ़िया रो-रोकर अपनी आँखें फोड़ लेती हैं। यदि किसी बालक का वियोग हो गया तो कहो सारा जीवन उसका रोते-रोते ही बीते। एक बुढ़िया थी, उसके थे 5 लड़के। सो उसमें से एक लड़का गुजर गया। अब बुढ़िया का ख्याल उसी लड़के का बना रहे और रोते-रोते अपने दिन गुजारे। 4 बालक समझाते हैं— अरी माँ तू क्यों रोती है? अभी हम चार लड़के हैं, हम चारों को देखकर तू प्रसन्नता से गुजार। लेकिन वह बुढ़िया कहे बेटा ! हमारा ध्यान तो एक उसी लड़के पर बना रहा करता है। वह लड़का तो हमें भूलता ही नहीं है। जब दूसरा लड़का गुजर गया तो फिर बुढ़िया रो-रोकर जीवन गुजारे। तीन लड़के समझाते हैं— अरी माँ अभी हम तीन लड़के जीवित हैं, हम तीनों को देखकर तू प्रसन्न रह। पर बुढ़िया यही कहे कि मुझे तो बस

वे दो ही लड़के नहीं भूलते हैं। उनका ही ध्यान बराबर बना रहता है। इसी प्रकार से वे सभी लड़के धीरे-धीरे गुजर गए, और हर लड़के के गुजरने पर वह बुढ़िया उसी तरह से कहे और रो-रोकर अपना जीवन गुजारे। तो इस आर्तध्यान में बुद्धि खराब हो जाती है। पागलपन सा छा जाता है। आत्मध्यानी पुरुष को अपने आत्मा का भी भान नहीं रहता है। तो समस्त परपदार्थों से भिन्न अपने आपको अनुभव कर प्रसन्न रहें। संसार में मेरा कहीं कुछ नहीं ऐसा समझकर अपने आपको ही अपना शरण समझें, अपने आपके ही निकट रहें तो लाभ की बात होगी। आर्तध्यान करना तो एक बिल्कुल मूढ़ता की बात है। अपने आपको अपने अन्दर में ही देखिये और अपने आपको प्रसन्न रखिये। मेरा कहीं भी कोई शरण नहीं है ऐसा समझकर अपने आपका शरण ग्रहण करना चाहिए। आर्तध्यान की प्रकृति वाले पुरुष के फिर विषयों में उत्सुकता जगती है। इस आर्तध्यान में जो जीव दु:ख भोगता है उसकी शान्ति के लिए एक यह उपाय सूझता है कि विषयों में प्रगति करे, विषयों की उत्सुकता जगे तो यह आर्तध्यान का चिन्ह है। आर्तध्यानी का एक चिन्ह और बताया है— उसे बारबार निद्रा भी आती है। हालांकि जिसे बहुत अधिक क्लेश होता है उसकी निद्रा भंग हो जाती लेकिन आर्तध्यान करने से गुणानुराग में इतनी अधिक थकान हो जाती है कि बड़ी जल्दी निद्रा आ जाती है, पर निद्रा का भंग भी बड़ी जल्दी हो जाता है। तो ऐसे जल्दी निद्रा का आना और जल्दी ही निद्रा का भंग होना ये बातें इस आर्तध्यानी पुरुष के चलती रहती हैं।

आर्तध्यानी पुरुष के शरीर में जागरूकता नहीं रहती, उसमें एक जड़ता सी आ जाती है। इस तरह शरीर जड़ बन जाता है और फिर उसको बेहोशी हो जाती है। आर्तध्यान के परिणाम का तो यही फल है। जैसे किसी को पता न हो कि यह मेरा पुत्र है और वह कितने ही क्लेश पा रहा हो तो भी इसके चित्त में कुछ भान नहीं होता। और कदाचित् गुजर भी जाय तब भी चित्त में कोई वेदना या अनुकम्पा नहीं होती। कुछ समय बाद मालूम पड़ा कि यह मेरा ही पुत्र है तो इतनी बात के मालूम पड़ते ही वह गिर जाता है, बेहोश हो जाता है। तो आर्तध्यान का आखिरी फल है बेहोश हो जाना। कितने ही लोग तो इस आर्तध्यान के क्लेश में अपने प्राण भी गवाँ देते हैं। कोई धर्म का भी थोड़ा सम्बन्ध रखकर आर्तध्यान करे वह भी उतना ही दु:खी होता है, कोई विषय संस्कार बनाकर आर्तध्यान करता है वह भी उतना ही दु:खी होता है। जब अंजना की सास ने दोष लगाकर निकाल दिया और अंजना भटकती रही, फिर चाहे कुछ भी हुआ, उसके पुण्य का उदय था जब पवनंजय को पता चला कि अंजना को दोष लगाकर निकाल दिया गया तो यह प्रतिज्ञा की कि अमुक समय तक अगर हमको अंजना नहीं दिखती तो अग्नि में जलकर आत्महत्या कर लेंगे। जब पवनञ्जय अग्नि की चिता बनाकर आत्महत्या करने वाला था उसी समय खबर मिली की अंजना अपने मामा के घर भली प्रकार सुख से है, और उसका बेटा हनुमान बड़ा प्रतापी है। तो ऐसे-ऐसे आर्तध्यान होते हैं कि लोग अपने प्राणों को भी गवाँ देते हैं। इन आर्तध्यानों की जड़ है केवल कल्पना। आत्मा को कोई पकड़े नहीं है, यह छेदा-भेदा नहीं जा सकता, इस आत्मा पर किसी भी प्रकार का कोई उपद्रव नहीं कर सकता है, इस

आत्मा में क्लेश की कोई बात नहीं है, पर यह जीव स्वयं कल्पनाएँ बना लेता, संसार में अपनी इज्जत चाहता, नाम चाहता, तो ऐसे-ऐसे पर्यायसम्बंधी संस्कार बनाने से इस जीव को आर्तध्यान होता है।

आर्तध्यान का फल अच्छा नहीं है, इस कारण ऐसा ज्ञान बनाना चाहिए कि कैसी भी पीड़ा आये, कोई भी उपद्रव आये उसमें भी हँसकर रह सकें, उसका प्रभाव अपने आप पर न आ सके। जो आर्तध्यान करता है उसके ऐसी-ऐसी विडम्बनाएँ होती हैं। ये उसके बाह्य चिन्ह हैं ऐसा बड़े-बड़े प्रकाण्ड विद्वानों ने बताया है। यों ध्यान के इस ग्रन्थ में इस समय आर्तध्यान की बात बतायी गई कि ये जीव के अहितरूप ध्यान हैं। आत्मध्यान ही उपादेय है। जो भी होता है होने दो, पर अपने आपको जो दु:खी अनुभव करेगा तो उसमें अपना ही विनाश है, अपना ही अकल्याण है। कुछ भी होता हो तो सबसे निराले मेरे आत्मा से गया क्या? सारा धन बिगड़ जाय, गृह गिर जाय, जो भी अनर्थ लोक में माने जाते हैं वे सब हो जायें तिस पर भी मेरा आत्मा तो अपने स्वरूप में सबसे निराला है। यह तो सदैव आनन्दमय है ऐसा निर्णय करके अपने आपको दु:खी अनुभव करने का साहस न करना चाहिए। और मैं आनन्दस्वरूप हूँ ऐसी ही भावना, ऐसा ही ध्यान अपना बनाना चाहिए। यह सब होता है मोह छूटने के प्रताप से, मोह छूटता है तत्त्वज्ञान से। इस कारण तत्त्वज्ञान में अधिक यत्न हो जिससे भेदविज्ञान जगे और संसार के सारे संकट अपने दूर हों। उस उपाय में ज्ञानवृद्धि का यत्न करना चाहिए।

श्लोक-1216

रुद्राशयभवं भीममपि रौद्रं चतुर्विधम्।
कीर्त्यमानं विदन्त्वार्या: सर्वसत्त्वाभयप्रदा:।।1216।।

आर्तध्यान के बाद अब रौद्रध्यान का स्वरूप कहा जा रहा है। रौद्र आशय से उत्पन्न हुआ जो भयानक ध्यान है उसे रौद्रध्यान कहते हैं। जो पुरुष हिंसा करने में कराने में कुछ आनन्द मानते हैं उनका भयानक ही तो काम है। जिससे अनेक जीवों का उपकार होता है, झूठ बोलने में, झूठी गवाही देने में, झूठे षड़यंत्र रचने में जो कुछ आनन्द माना है वे सब रौद्रध्यान ही तो हैं। चोरी करने में कराने में जो आनन्द समझते हैं वे सब रौद्रध्यान हैं और विषयों के साधनों के संरक्षण में, संचय में जो आनन्द माना जाता है वह सब रौद्रध्यान है। तो ऐसे रौद्रध्यान करने वाले पुरुषों का आशय क्रूर होता है। भले ही मौज मान रहे हैं पर आशय उनका भला नहीं है। तो रुद्र आशय से उत्पन्न हुआ भयानक भी यह रौद्रध्यान चार प्रकार का कहा गया है। ऐसे वीतराग ऋषि संतों ने कहा है जो सब प्राणियों को अभयदान देने वाले हैं, जिनका उपदेश सबके

हित के लिए है। जो जीवदया का उपदेश दिया है प्रभु ने उस उपदेश से देखो सबका हित होता कि नहीं। यदि मनुष्य हैं, दया पालकर अपना धर्म निभाते हैं तो यह तो मनुष्यों का उपकार है और दया पालने से जो जीव बच गए, जिन जीवों की हिंसा नहीं हुई इससे उन जीवों का भी भला है। तो उन ऋषियों का उपदेश सबकी भलाई करने वाला होता है। उन्होंने बताया है कि रौद्रध्यान चार प्रकार का होता है।

श्लोक-1217

रुद्रः क्रूराशयः प्राणी प्रणीतस्तत्त्वदर्शिभिः।
रुद्रस्य कर्म भावो वा रौद्रमित्यभिधीयते।।1217।।

रौद्रध्यान रुद्र शब्द से बना है और रुद्र कहते हैं क्रूर अभिप्राय वाले को। जिसका इतना खुदगर्ज अभिप्राय है कि उसके प्रयोग में दूसरे जीवों की हिंसा हो, दिल दुःखे, अपघात हो, कुछ भी हो किन्तु अपना मौज रखने और बिना प्रयोजन से ऐसी खटपट बातें रचना जिससे खुद मौज लेते रहें वे सब भाव रुद्र हैं। यों रुद्र वह प्राणी है जिसका क्रूर आशय है, कोई रुद्र का जो कर्म है, भाव है, ध्यान है उसका नाम रौद्रध्यान है। जब पाण्डव और कौरवों का एक गुप्त कल्पयुद्ध हो रहा था, पाण्डव तो शान्त प्रकृति के थे। जब उस कल्पयुद्ध में वे हार गए तो उसके बाद एक यह भी सजा दी कि ये यहाँ से चले जायेंगे और लाख के महल में रहेंगे। उस लाख के महल को आग से जला दिया जायगा और ये सब मर जायेंगे। अब बतलावो कि उन कौरवों का अभिप्राय क्रूर है कि नहीं? लेकिन बात कैसे क्या बन गयी? उन पाण्डवों का हितू था विदूर। और गुप्त रूप से सुरंग बना लिया गया था, वे सब पाण्डव तो बच गए थे, पर कौरवों की समझ में तो वे भस्म हो गए। और आजकल बताते हैं कि वह लाख का किला बरनावा में है। तो जो क्रूर आशय वाले पुरुष हैं वे रुद्र हैं, और रुद्र का जो काम है, चिन्तन है, परिणाम है उसको कहते है रौद्रध्यान। रुद्रध्यान जीव का अनर्थ करने वाला है, संसार में रुलने वाला है, आत्मतत्त्व से विमुख रखने वाला है। कहाँ तो सीधा सरल काम था केवल ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप अपने परिणाम बनाने का और कहाँ उससे अत्यन्त विरुद्ध नाना विकल्पजालों में रचा गया यह रौद्रध्यान। यह सब अज्ञान का फल है। जीव को अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूप का विश्वास नहीं हुआ, इस कारण वह अपने आपमें तो टिक नहीं सका, अपने आपका इसे भान नहीं हो सका, पर्याय में दृष्टि करके, बाहरी पदार्थों से अपना बड़प्पन समझ कर रौद्रध्यान बना लिया।

श्लोक-1218

हिंसानन्दान्मृषानन्दाच्चौर्यात्संरक्षणात्तथा।
प्रभवत्यङ्गिनां शश्वदपि रौद्रं चतुर्विधम्।।1218।।

हिंसा में आनन्द मानने से, झूठ में आनन्द मानने से, चोरी में आनन्द मानने से और विषयसंरक्षण में आनन्द मानने से रौद्रध्यान होता है। अब समझ लीजिए कि कैसे-कैसे रौद्रध्यान बन जाया करते हैं। हिंसा करना कराना और उसमें आनन्द मानना प्रकट रौद्रध्यान है, पाप है, लेकिन खुद के आराम के खातिर उन जीवों की हिंसा कर रहे हैं, यह भी एक रौद्रध्यान है। अपने विषय साधनों के लिए अथवा अपने किसी भी मतलब की सिद्धि के लिए ऐसा प्रयोग करना कि चाहे उसमें दूसरों का दिल दु:खे, क्लेश हो वह भी रौद्रध्यान है। झूठ बोलने में जो मौज लेते हैं वह भी रौद्रध्यान है। अब सभी बातों को विचारते जायें कि हम कितना रौद्रध्यान बसाया करते हैं। चोरी में आनन्द मानना, छुपकर कोई कार्य करके आनन्द मानना आदिक चौर्यानन्द नाम के आर्तध्यान हैं। कभी मान लो व्रत लिया हो और खाते हुए में कोई जरा सा बाल दिख जाय और उसे अगल-बगल करके निपटारा कर दिया जाय तो वह चौर्यानन्द आर्तध्यान हुआ कि नहीं। चोरी हैं वे सब बातें जो-जो इस जीव को छुपकर करनी पड़ें। जब कुत्ते को रोटी डालते हैं तो वह कितना प्रेमवश, प्रीति दिखाकर, पूँछ हिलाकर, मालिक की विनय करता हुआ रोटी खाता जाता है, और किसी तरह से वह कुत्ता चौके से रोटी उठा ले जाय तो कितना वह लुक छिपकर भागता है। और किसी एकान्त स्थान में जाकर रोटी खाता है। सो चौर्य के भाव में मौज मानना सो चौर्यानन्द रौद्रध्यान है और चौथा है विषयसंरक्षणानन्द। केवल धनवैभव बढ़ाने में आनन्द मानने का ही नाम रौद्रध्यान नहीं, किन्तु पंचइन्द्रिय और छठा मन इन विषयों का संरक्षण जिस किसी प्रकार हो उसमें भी आनन्द मानना, यह सब रौद्रध्यान है। तो कीर्ति नामवरी नेतागिरी के खातिर हजारों रुपये खर्च करके आनन्द माने तो वह भी विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान हुआ। परिग्रह नाम केवल रुपया पैसों का ही नहीं किन्तु जो किसी भी अनात्मतत्त्व में रुचि जगाये, उसे अंगीकार करे वह सब परिग्रह कहलाता है। तो ये चार प्रकार के रौद्रध्यान हैं। ये जीव के सदैव भी चार प्रकार के रौद्रध्यान उत्पन्न होते रहते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञीपश्चेन्द्रिय तक के समस्त जीवों के बराबर रौद्रध्यान रहता है। जिनके मन है वे अच्छे ढंग से आर्तध्यान कर लेते हैं बड़ी कला से और जिनके मन नहीं है वे संज्ञावों के वश होकर इन ध्यानों को करते रहते हैं। ये चार प्रकार के ध्यान इस जीव को पदच्युत कर देते हैं।

एक अपने आपके स्वरूप की दृष्टि जगे और जब यह विदित हो कि यह मैं आत्मा अपने ऐसे दृढ़ किले वाला हूँ कि जिसका किसी भी परतत्त्व में प्रवेश ही नहीं हो सकता। जब यह दृष्टि से आये कि मैं

सबसे न्यारा हूँ, अपने आपमें परिणमन करता रहता हूँ, अपने को करता हूँ, अपने को ही भोगता हूँ। मैं निरन्तर कुछ न कुछ परिणमन करता ही रहता हूँ, इसके आगे और कुछ मैं नहीं करता। यों समझकर जब भेदविज्ञान जगता है, विज्ञान जगता है, मैं न्यारा सब न्यारे, उस पुरुष के फिर रुद्र आशय नहीं रह पाता। नीति के ग्रन्थ में दुष्ट पुरुष की मच्छरों से उपमा दी है। जैसे मच्छर पहिले पैर में पड़ते हैं, पीछे पीठ का माँस खाते हैं। तीसरे कान में कुछ अपने शब्द बोलते हैं ये तीन काम हैं मच्छरों के, ऐसे ही दुष्टों के भी ये तीन काम हैं— पहिले पैरों में पड़ जायें, आप बड़े हितैषी हैं, आपका क्या कहना है, आप एकचित्त हैं ऐसा विश्वास पहिले पैदा कराया और पीठ पीछे बुराई किया फिर कानों में कुछ न कुछ शब्द गुनगुनाते हैं, यहाँ की बात वहाँ कहा, तो यह सब रुद्र आशय की चीज बतायी गई है। जब प्राणी का क्रूर आशय होता है तो उसकी ऐसी प्रवृत्ति होती है। यहाँ सार नहीं है। सार है एक विशुद्ध आत्मा के ध्यान में, वैभव जुड़ जाय, परिजन अच्छे हो जायें, इज्जत भी बढ़ जाय, सब कुछ हो जाय, पर एक धर्म के संचय की बात न आये तो कोई भी अपना हित करने में समर्थ नहीं है। सबका सम्बंध एक जुदी-जुदी दिशा से होता है। धर्म का सम्बंध सदा के लिए इस जीव को निराकुल बना देता है। देश का सम्बंध, समाज का सम्बंध, कुटुम्बियों का सम्बंध जीव को सदा आकुलित बनाये रहता है, पर एक धर्म का सम्बंध ऐसा है कि जीव को सदा के लिए निराकुलता बनी रहती है तो जब भेदविज्ञान ज्योति जगती है और सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र अपने अनुभव में आता है उस समय विदित होता है कि एक मेरे आत्मा के ध्यान के सिवाय अन्य सब अत्यन्त असार है। यह ज्ञान जिनके नहीं जगा उनको पर्याय में आत्मबुद्धि रहती है। और शरीर की जो इन्द्रियाँ हैं उनके पोषण के लिए ही यत्न रहता है, उसमें आशय अवश्य क्रूर हो जाता है।

श्लोक-1219

हते निष्पीडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते।
स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्धिंसा रौद्रमुच्यते।।1219।।

कोई जीवसमूह मर जाय, पीड़ित किया जाय, ध्वस्त हो जाय अथवा उसे बिखलाया जाय अपने द्वारा या दूसरे के द्वारा उसमें हर्ष माने यह हिंसानन्द नाम का रौद्रध्यान है। बाजारों में कोई मदारी नेवला और सर्प की लड़ाई दिखाते हैं। सर्प और नेवले का तो बैर है। नेवला सर्प को इधर उधर काट लेता है फिर भी देखने वाले सभी लोग उसमें मौज मानते हैं। तो उन सभी दर्शकों ने वहाँ रौद्रध्यान किया। गृहस्थावस्था में कैसा विचित्र समन्वय है कि कोई धर्म पर अथवा अपने परिवार पर हमला करे तो उसकी रक्षा करते हुए में

यदि शत्रु का मरण भी हो जाय तो वहाँ हिंसा नहीं माना है। कभी-कभी मदारी लोग ऐसा दृश्य दिखाते हैं कि एक मुर्गा के पैर में पैनी छुरी बाँध दिया और किसी दूसरे मुर्गे से लड़ा दिया। वह मुर्गा छुरी से छेद भी जाता है पर लोग उस दृश्य को देखकर मौज मानते हैं। तो सभी दर्शक लोग वहाँ रौद्रध्यान कर रहे हैं। किसी युद्ध के प्रसंग में अपनी रक्षा करते हुए में यदि शत्रु का प्राणघात भी हो जाय तो चूँकि वहाँ किसी के मारने का भाव नहीं है, अपनी रक्षा का मात्र-भाव है तो वहाँ हिंसा नहीं माना। इस रौद्रध्यान का बड़ा विस्तार है, कोई-कोई लोग चूहे के पैर को रस्सी से बाँध लेते हैं और उसके पीछे कुत्ता दौड़ाते हैं। कुत्ता चाहे मारकर खा भी डाले, पर लोग उस दृश्य को देखकर खुश होते हैं, ये सब रौद्रध्यान हैं। यह हिंसाविषयक नाम का रौद्रध्यान है।

श्लोक-1220

अनारतं निष्करुणस्वभावः स्वभावतः क्रोधकषायदीप्तः।
मदोद्धतः पापमतिः कुशीलः स्यान्नास्तिको यः स हि रौद्रधामा।।1220।।

रौद्रध्यान उस पुरुष में बसा होता है जो निरन्तर निर्दय स्वभाव वाला होता है। जिसका दयाहीन स्वभाव है उसके संग में रहने से अचानक ही जब चाहे बहुत कठिन विपदायें आ सकती हैं। देखिये कोई व्रत भी पाले और हृदय में दया न हो। दूसरे जीवों का दिल दुःखाये तो उसका रौद्र आशय कहा जायगा ना। कुछ त्यागी लोग ऐसे होते हैं कि जरा सी हरी घास पर नहीं चल सकते तो छोटी संकरी गंदी गली से चले जाते हैं। देखिये वहाँ कितना रौद्र आशय है उस त्यागी का। ऐसी-ऐसी छोटी-छोटी बातें कहाँ तक कहीं जायें? व्रत भी पालन करते जाते, पर दया से रहित स्वभाव हो तो उस व्यक्ति को दुर्गति सुगम है। कोई पुरुष दया का स्वभाव वाला है और व्रत नहीं भी पाल सकता, संयम नहीं धारण कर सकता, किन्तु हृदय कोमल है, परोपकार के लिए चित्त चलता है ऐसा पुरुष स्वर्ग आदिक गतियों को शीघ्र पा लेता है। दया का बड़ा महत्त्व है, तभी दया को ही धर्म कहा गया हैं, लेकिन दया का अगर पूरा अर्थ किया जाय तो यह होगा कि अपने आप पर दया करना है, अपने आपको विषय कषायों से दूर करें, खोटे अभिप्राय न जग सकें, यों अपने आत्मप्रभु की रक्षा करना यही है आत्मदया।

जिसका दयारहित स्वभाव है उस पुरुष के रौद्रध्यान बसा करता है। जो स्वभाव से ही क्रोधकषाय से जला हुआ रहता है, क्रोध करने का स्वभाव ही बना रहा करता है ऐसे पुरुष के रौद्रध्यान बसा करता है, ऐसे पुरुष से बातें करने में भी लोग डरते हैं। यही डर लगा रहता है कि न जाने यह कैसा आग बबूला हो जाय?

जिसे घमंड है अपने रूप पर, अपने ज्ञान पर, बल पर, इज्जत पर, जाति पर तथा कुल आदि पर, तो ऐसे पुरुष के रौद्रध्यान बसा रहता है। घमंडी पुरुष को तो अपना सम्मान चाहिए, अपने मान की पूर्ति चाहिए। उसमें चाहे मित्र का भी अपमान हो, किसी पर भी विपदा आये उसको न देखना, क्योंकि घमंड में, अहंकार में इतना बुरा फँसा है कि उसके निरन्तर रौद्रध्यान रहा करता है। जो पाप बुद्धि वाला जीव अपने शील से चिगकर कुशील को धारण करता है वह पुरुष भी रौद्रध्यानी है। जो भी नास्तिक जन हैं वे भी सब रौद्रध्यानी होते हैं। कभी-कभी धर्म की चर्चा करते हुए में भी जो विद्वान है, जिसे बोलने की बड़ी कला याद है तो ऐसे ढंग से बोलता जाता है कि मर्म छिद जाय, ऐसी शैली से बात करता है वह है रौद्रआशय। अपने आपके हित की इच्छा होना और जगत के समस्त प्राणियों के हित की भावना होना यह बहुत ऊँचे भवतव्य की बात है। जो पुरुष ऐसे रौद्र आशय में रहते हैं उनके रौद्रध्यान होता रहता है। अब रौद्रध्यान हमारे कितना कब कैसे रहता है, इसकी परीक्षा करना चाहिये, खोज तो करनी चाहिए। शास्त्रों के सुनने और अध्ययन का फल यही है, प्रयोजन यह है कि हम अपने आपके हित के लिए निर्णय करें। यह शास्त्रोपदेश सुनने भर के लिए और बांचने भर के लिए नहीं है। बांचना और सुनना तो एक माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने प्रयोजन पर पहुँच सकते हैं। सुनकर, बांचकर यदि अपने प्रयोजन की सिद्धि न की तो उससे लाभ क्या हुआ? हमें शिक्षा लेना चाहिए कि खोटे ध्यानों से बचें और शुद्ध ध्यान से रहें। देखो— विशुद्ध ध्यान करके कहीं भी आपत्ति नहीं है, प्रसन्नता रहती है, और अशुद्ध भाव बनाने में तो अपने आपमें एक दु:साहस भी बनाना पड़ता और उसके साथ-साथ क्लेश भी भोगना पड़ता है। इस कारण अपने आपको सरलहृदयी बनाना चाहिए जिससे हम अपने आपमें विकल्पजाल न मचायें और शान्त सुखी रह सकें। यह हिंसानन्द नाम का रौद्रध्यान कहा है। दूसरे की हिंसा में आनन्द मानना यह बहुत दुष्ट ध्यान है। इसे छोड़कर निर्मोह बनकर आत्मा के विशुद्ध ध्यान की ओर लगाना चाहिए।

श्लोक-1221

हिंसाकर्मणि कौशलं निपुणता पापोपदेशे भृशं,
दाक्ष्यं नस्तिकशासने प्रतिदिनं प्राणातिपाते रति:।
संवास: सह निर्दयैरविरतं नैसर्गिकी क्रूरता,
यत्याद्देहभृतां तदत्र गदितं रौद्रं प्रशान्ताशयै:।।1221।।

जिसका प्रशान्त आशय है, ज्ञान और शान्ति का भण्डार है ऐसे महर्षिजनों ने हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान का यह स्वरूप कहा है। हिंसा के कार्य में प्रवीणता का होना यह हिंसानन्द रौद्रध्यान है। जैसे कोई शिकार खेलने में कुशल होता है और कीड़ा मकोड़ा आदिक के सताने में बड़ी चतुराई रखता है, चूहों को कुत्ते के सामने छोड़ने आदिक ऐसे कार्यों में प्रवीण है वह रौद्रध्यान का फल है। उनका आशय क्रूर है। आशय की बात देखिये— कोई आक्रामक के विरुद्ध युद्ध करना पड़े और उस युद्ध में जो होना है सो होता ही है तिस पर भी वह क्रूर आशय वाला नहीं कहा गया है। जो कीड़ा मकोड़ा आदिक पशु पक्षियों को सताये उसका क्रूर आशय बताया है। यद्यपि वहाँ भी हिंसा है और विरोधी हिंसा है। किसी निरपराध व्यक्ति को युद्ध में लड़ाई भी करनी पड़े और उसके द्वारा शत्रु का आघात भी हो जाय तो वहाँ हिंसा नहीं बताया गया। उसके हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान नहीं बनता है। तो चिन्ह बताये जा रहे हैं, जो हिंसाकर्म करने की चतुराई बतायें, पापकर्म का उपदेश देने में जो निष्प्रह हों उनके रौद्रध्यान बनता है। जो हिंसाजनक कार्य हैं उनकी निष्पृहता आये तो वह रौद्रध्यान है, जिससे नास्तिकता का प्रचार हो, ऐसे-ऐसे भाषण करना, उपदेश करना, खूब खावो पियो मरने के बाद कौन देख आया कि क्या होगा? किसी भी तरह से धन कमाओ, अपने पास खूब धन होगा तो लोक में इज्जत होगी। न्याय और अन्याय क्या है? धन का संचय है तो उससे बड़प्पन है आदिक बातों को कहकर नास्तिकता के शास्त्रों में दक्षता बनाना यह रौद्रध्यान है। प्रतिदिन जिन पुरुषों की हिंसा करने में प्रीति होती है ऐसे निर्दय पुरुषों के साथ अपना आवास रखना वह सब रौद्रध्यान का चिन्ह है। व्रतभाव का न होना और स्वभावत: क्रूरता का परिणाम होना ये सब बातें जिन देहधारियों के होती हैं उनके रौद्रध्यान कहा है। दो ध्यान खोटे हैं— आर्त और रौद्र। इनकी भी अपने आपके मन में चिन्तना करना चाहिए कि हम आर्त रौद्रध्यान में कितना समय गुजारते हैं? और अपने आपकी दृष्टि में, धर्म की साधना में, शान्ति के स्वागत में कितना समय गुजारते हैं? यह हिसाब प्रत्येक कल्याणार्थी को प्रतिदिन रखने की आवश्यकता है। यदि किसी ध्यान में दु:खरूप परिणम रहे हैं तो वह आर्तध्यान है और किसी ध्यान में सांसारिक सुख लूटने का ध्यान रहता है वह रौद्रध्यान है। यह हिंसानन्द रौद्रध्यान की बात है।

केनोपायेन घातो भवति तनुमतां क: प्रवीणोऽत्र हन्ता,
हन्तुं कस्यानुराग: कतिभिरिह दिनैर्हन्यते जन्तुजातम्।

श्लोक-1222

हत्वा पूजां करिष्ये द्विजगुरुमरुतां कीर्तिशान्त्यर्थमित्थं,
यत्स्याद्धिंसाभिनन्दो जगति तनुभृतां तद्धि रौद्रं प्रणीतम्।।1222।।

रौद्रध्यानी पुरुष का कैसा-कैसा विचार चलता है? किस उपाय से प्राणियों के घात का उपाय बनाता है, सूत का जाल बनाता है मछलियों को फासने के लिए या अन्य-अन्य साधन बनाता है मछलियाँ पकड़ने के लिए। इनमें जो भी विचार बनाये जाते हैं वे सब रौद्रध्यान हैं। बहुत से लोग हिंसक कार्यों का रोजगार करते हैं, जिनके भी मन में यह चिन्तन रहता है कि किस उपाय से प्राणियों का घात हो वह सब रौद्रध्यान है। यों देखना कि मारने वाला कौन अधिक प्रवीण है? हिंसा करने में कौन अधिक चतुर है? ऐसी छाँट करना यह सब रौद्रध्यान का फल है। जीवों के समूह को मारने में किसका अनुराग बना हुआ है, जीवों का समूह कितने दिनों में मर जायगा ये सब बातें चिन्तन में लाना रौद्रध्यान है। एक भाव होता है विषयसंरक्षणानन्द, उसमें तो कोई श्रावक बचता नहीं है। जब घर में रहता है। तो घर के साधनों के जुटाने में एक आवश्यक सा हो जाता है। तो विषयों के साधनों के जुटाने में सुख मानना सो परिग्रहानन्द है। दुकान करता है, दुकान पर जो बैठता है क्या वह यह परिणाम नहीं रखता कि मैं यहाँ कुछ कमाई करूँ। इतना फर्क है कि कोई पुरुष धर्मसाधना के लिए जी रहा है और उस ही प्रोग्राम में अर्थ का उपार्जन भी कर रहा है। कोई पुरुष केवल मौज के लिए, आराम के साधन बढ़ाने के लिए कमाई करते हैं। गृहस्थी में रहकर तो कमाई के लिए भी कुछ न कुछ ख्याल रखना भी पड़ता है तो रौद्रध्यान बनाना सम्भव ही है। यह रौद्रध्यान पंचम गुणस्थान तक भी हुआ करता है। जो अत्यन्त खोटा रौद्रध्यान है हिंसानन्द उसकी बात चल रही है। इन जीवों को मारकर, इनकी बलि देकर मैं अपने इष्टदेव को, इष्ट गुरु को प्रसन्न करूँ, उससे कीर्ति होगी और शान्ति मिलेगी ऐसा कुछ लोगों का भाव रहता है वह भी रौद्रध्यान है। धर्म का नाम लेकर भी एक सांसारिक सुख जैसे हिसाब से जो मौज आता है वह भी रौद्रध्यान कहलाता है। जब तक जीव को निराले ज्ञानानन्दस्वरूप का अनुभव न जगे तब तक इस असार संसार से विरक्ति नहीं उत्पन्न होती और जब तक संसार, शरीर भोगों से विरक्ति नहीं उत्पन्न होती तब तक खोटे ध्यान हट नहीं सकते। जो अपनी दया करता है उसमें सबकी दया व्यवस्था से बनेगी और जो खुद आकुलित हो रहा है वह दूसरे को निराकुल बनाने का उपाय क्या रचेगा? आत्मदया यह है कि यह बुद्धि आये कि मैं शरीर से भी न्यारा हूँ। मेरे ही परिणाम से जो मुझमें पापकर्मबन्धन को प्राप्त होते हैं उनके उदय के अनुकूल अपने को सुख-दु:ख प्राप्त होता है। ऐसी ही समस्त संसारी जीवों की स्थिति है। जब पुण्य पाप भावों से भी उठकर केवल ज्ञानस्वभाव में ही मग्न होने का ध्यान बनेगा तो उस समय कर्मबन्धनों से मुक्ति मिलेगी।

मेरे लिए मैं आत्मा ही सर्व कुछ हूँ। यों संसार शरीर और भोगों से विरक्ति परिणाम हो तो उससे उत्कृष्ट पवित्रता और क्या होगी? खूब नहाने से श्रृंगार के वस्त्र आभूषण आदि पहनने से कोई पवित्रता आती है क्या? पवित्रता आती है परिणामों में वैराग्यभाव जगने से। अपने ज्ञानस्वरूप का अनुराग जगा हो तो पवित्रता आती है। ऐसी पवित्रता आये बिना जीव को शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। परिग्रह में मुग्ध होना, धन

वैभव के संचय की लालसा बनाये रखना, इससे जीव को शान्ति प्राप्त हो सकेगी क्या? परिवार के लोगों को, अच्छा बनाकर भी शान्ति प्राप्त हो सकेगी क्या? अरे इन सब बातों के कर लेने से शान्ति न प्राप्त होगी। शान्ति तो प्राप्त होती है आत्मबोध होने से। अपने आपका सही निर्णय हो और अपने आपके ही निकट अपना उपयोग रह सके यह ही सारभूत बात है। शेष सब चीजें तो स्वप्नवत् असार हैं। जैसे स्वप्न में अपनी महिमा की बात बढ़ाना असार है ऐसे ही यहाँ पर जो कुछ समागम प्राप्त हैं वे सब भी असार हैं और यहाँ के ये मायामय लोग जो स्वयं जन्म मरण के चक्र में घिरे हुए हैं ऐसे इन प्राणियों से अपने लिए कुछ चाहना भी असार है। यह तो कोई, 40, 50, 60 वर्ष का जीवन है, इससे पहिले भी तो हम आप थे, पर तब तक का अब कुछ साथ है क्या? पहिले भी बड़ा वैभव रहा होगा, बड़ी इज्जत रही होगी, खूब कीर्ति फैली हुई होगी पर उसका एक बिन्दु भी अब साथ है क्या? जब तक 10-20 वर्ष जी रहे हैं तब तक भले ही कुछ ठाठ-बाट दिख रहा है, पर मरण होने के बाद किसको क्या पता कि क्या स्थिति होगी? तब यहाँ क्या करना? अपने आपमें ज्ञान की बात जगे, अपने चित्स्वरूप का अनुराग जगे, शेष सभी जीवों को एक समान स्वरूप में देखें ऐसी श्रद्धा रहे तो वह आत्मा पवित्र है, वह सबका पूज्य है। इस पवित्रता में ही शान्ति का मार्ग बसा है और रौद्रध्यान से शान्ति का मार्ग नहीं मिलता। रौद्रध्यानी पुरुष क्या-क्या सोचता है? किस जीव का घात हुआ, अब किस जीव का घात करें आदि। किसी को कोई बल देकर गिरा देवे और दर्शक उसमें खुश हों तो यह सब भी रौद्रध्यान है। यह तो एक विशिष्ट बात कही गई है। साधारणतया तो अपने स्वरूप को जो पुरुष भूले हुए हैं और अपने विषयसाधनों के लिए जो हिंसा की भी परवाह नहीं करते ऐसे पुरुषों के भी रौद्रध्यान पाया जाता है। रौद्रध्यान का फल है सामान्यतया नरक गति और आर्तध्यान का फल है सामान्यतया तिर्यञ्च गति। किसी दृष्टि से तिर्यञ्च गति नरक गति से खराब है और किसी दृष्टि से नरक गति तिर्यञ्च गति से खराब है। इन दुर्ध्यानों का यही फल है कि यह जीव संसार में जन्म-मरण के चक्र लगाये जा रहा है।

श्लोक-1223

गगनवनधरित्रीचारिणां देहभाजाम् दलनदहनबन्धच्छेदघातेषु यत्नम्।
दृतिनखकरनेत्रोत्पाटने कौतुकं यत् तदिह गदितमुच्चैश्चेतसां रौद्रमित्थम्।।1223।।

आकाश में चलने वाले पक्षी, जल में चलने वाली मछली आदिक, थल में चलने वाले पशु आदिक इन जीवों के घात करने का उपाय रचना, घात करने का यत्न करना ये सब रौद्रध्यान हैं। यह हिंसानन्द रौद्रध्यान का स्वरूप कहा जा रहा है। तो पशुवों की चमड़ी, नख, हाथ आदिक नष्ट करके जो भी रूप

परिणाम होते हैं वे सब रौद्रध्यान कहलाते हैं। कितने ही लोग कुत्ते को लुटाते और उसकी पूँछ काट डालते, कुछ लोग तोते, तीतर आदि पिंजड़े में बन्द करते, ये सब आखिर हिंसक जीव ही तो हैं। इनसे कभी जीवघात करने की बात देखी तो वहाँ भी रौद्रध्यान बनता है। गुरुजी सुनाते थे कि बाईजी के घर में एक बिल्ली पली रहती थी। वह बिल्ली बाईजी को तथा गुरुजी को बड़ा अनुराग दिखाती थी। जब कभी ये लोग कहीं बाहर चले जाते और वहाँ से लौटकर आते तो वह बिल्ली उनके पैरों में लोटकर बड़ा अनुराग दिखाती थी। तो गुरुजी उसे खूब दूध पिलाने लगे, खूब रोटी खिलाने लगे। बाईजी ने गुरुजी से कहा कि देखो— तुम इस बिल्ली को खूब खिलाते पिलाते हो, पर किसी दिन तुमको इससे बड़ा दु:ख होगा। तो कुछ ही दिनों के बाद में हुआ क्या कि उस बिल्ली ने एक चूहे को पकड़कर बुरी तरह से मार डाला। ऐसे दृश्य को देखकर गुरुजी को बड़ा दु:ख हुआ। तो किसी हिंसक पुरुष को पालकर कभी यदि उसके द्वारा किसी जीव की हिंसा करते हुए दिख गया तो उस समय जो भाव बनेंगे, जो ध्यान बनेगा वह भी रौद्रध्यान से सम्बंध रखने वाली बात है। आजकल तो चमड़े के कोट कमीज भी बनते हैं। पहिले छोटे-छोटे बछड़ों को जिन्दा मारकर उनकी चमड़ी छील ली जाती है और फिर उस ही चमड़ी को पानी में उबालकर साफ कर वे कोट कमीज आदि बनते हैं। तो कोई यदि चमड़े से बनी चीजों का उपयोग करे तो उसे भी रौद्रध्यान में शामिल होना पड़ेगा। आखिर समर्थन तो उनका मिलता ही है। तो जीवों को सताने का जो केवल कौतूहलरूप परिणाम रखते हैं वह रौद्रध्यान है, ऐसा बड़े चित्त वाले पुरुषों ने कहा है।

श्लोक-1224

अस्य घातो जयोऽन्यस्य समरे जायतामिति।
स्मरत्यङ्गी तदप्याहू रौद्रमध्यात्मवेदिन:।।1224।।

जो अध्यात्मवेदी पुरुष हैं उन्होंने बताया है कि ऐसे भी चिन्तन करके कि इस जीव की हार हो, इसकी जीत हो अर्थात् किसी का पक्ष रखे और किसी का विरोध रखे यह भी तो रौद्रध्यान है। कोई दो पुरुष लड़ रहे हों अथवा दो तीतर लड़ रहे हों, बिना प्रयोजन ही किसी के जीत जाने और किसी के हार जाने की बात मन में आये तो वह भी रौद्रध्यान है। कभी मित्रजन आपस में बात करते हैं कि देखे अमुक हारेगा अमुक जीतेगा ऐसी पक्ष विपक्ष की बातें सोचना यह सब भी रौद्रध्यान है। किसी युद्ध के प्रसंग में अमुक की हार हो, अमुक की जीत हो इस प्रकार का चिन्तन करना भी रौद्रध्यान है। अब इस प्रसंग में एक यह बात जानने की है कि कोई-कोई पुरुष धर्म का पक्ष ले लेते, धर्मी का पक्ष ले लेते, अधर्म के विपक्षी हो जाते, अधर्मी के

विपक्षी हो जाते तो क्या यह भी रौद्रध्यान है? सो ऐसी बात नहीं है, वह तो धर्मानुराग की बात है, पर जिससे धर्म का सम्बंध नहीं है वहाँ किसी के पक्ष विपक्ष में पड़े तो वहाँ सब रौद्रध्यान है। जो मित्रता के नाते से विचार चलता है कि अमुक मेरा मित्र है, इसकी विजय हो, दूसरे की हार हो यह भी रौद्रध्यान में शामिल है। इस रौद्रध्यान को कहाँ तक विस्तार से कहा जाय? इस विश्व में विरले ही सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को छोड़कर समस्त विश्व के जीवों में आर्तध्यान और रौद्रध्यान लगा हुआ है।

श्लोक-1225

श्रुते दृष्टे स्मृते जन्तुवधाद्युरुपराभवे।
यो हर्षस्तद्धि विज्ञेयं रौद्रं दु:खानलेन्धनम्।।1225।।

जीवों के बन्धन आदिक के तीव्र दु:ख अपमान आदिक के देखने सुनने में हर्ष करना यह भी रौद्रध्यान है। सब जीवों में अपनी-अपनी कषायें हैं, सभी अपने-अपने कषायों के अनुसार बर्ताव करते हैं, किसी से कुछ मतलब तो नहीं, कोई किसी का शत्रु नहीं, पर किसी को इष्ट और किसी को अनिष्ट मान ले तो यह भी आर्तध्यान है। अरे ये सभी अपना-अपना स्वार्थ चाहते हैं, अपना सुख चाहते हैं, किसी का किसी से यहाँ कोई नाता नहीं कोई सम्बंध नहीं, पर किसी में इष्ट मानने की बात जगी और किसी में अनिष्ट मानने की बात जगी, किसी के मान को सुनकर खुश हो रहे तो किसी के अपमान को सुनकर खुश हो रहे, यह सब क्या है? यह सब रौद्रध्यान ही तो है। किसी का मरण जानकर, अकल्याण जानकर हर्ष मानना यह भी रौद्रध्यान है। यह रौद्रध्यान दु:खरूपी अग्नि को बढ़ाने के लिए ईंधन के समान है। जैसे ईंधन पाकर अग्नि बढ़ती है ऐसे ही रौद्रध्यान को पाकर यह दु:ख बढ़ता है। इस रौद्रध्यान से आत्मा को सिद्धि कुछ नहीं मिलती। हमारा जो कुछ भी भविष्य बनता है वह हमारे भावों के अनुसार बनता है। फिर दूसरों के प्रति दुर्भावना रखना, किसी को शत्रु मानना, किसी को अनिष्ट समझना ये सब अनर्थ की बातें हैं, क्लेश की ही बातें हैं। अपने परिणाम न बिगड़ने देना, अपनी भावनाएँ विशुद्ध बनाना, इसमें ही लाभ है। कोई बाह्य अर्थों की प्राप्ति के लिए दुर्भावना बनाये और कदाचित् वे प्राप्त भी हो जायें तो समझिये कि वह सब पूर्वकृत पुण्य का फल है। क्रूर आशय बनाकर जो कुछ वैभव जोड़ भी लिया तो उससे इस आत्मा का कुछ भी लाभ नहीं है। पाप का उदय आयगा और इससे कई गुना दु:ख भोगना पड़ेगा। अपनी भावनाएँ विशुद्ध बनायें, खोटे ध्यानों का त्याग करें, इसमें ही अपना भला है।

श्लोक-1226

अहं कदा करिष्यामि पूर्ववैरस्य निष्क्रियम्।
अस्य चित्रैर्वधैशचेति चिन्ता रौद्राय कल्पिता।।1226।।

ऐसा चिन्तन करना कि मैं कब पूर्वकाल के बैरी का बदला लूँ, अनेक प्रकार के घात से किस समय बदला ले सकूँगा ऐसा विचार करना भी रौद्रध्यान माना गया है। किसी से कुछ बुराई हुई, किसी को दुश्मन मान लिया, अब उसके बारे में विचार कर रहे हैं मैं कब बदला ले सकूँगा और उसका बदला लेने की वासना बनाना और उपाय करना यह सब रौद्रध्यान है। खोटे ध्यानों से आत्मा का कुछ लाभ नहीं है, क्योंकि जगत में जितने जीव हैं, सभी अत्यन्त भिन्न हैं, न कोई उनमें इष्ट है और न कोई अनिष्ट है और फिर किसी पुरुष का बुरा हो जाय उससे इसे कुछ मिलता नहीं, केवल एक कल्पना जगी, उसकी पूर्ति हो गयी। यह मूढ़ता है। जैसे किसी बच्चे के सिर में किवाड़ लग जाये तो उसकी माँ किवाड़ को थोड़ा पीट देती है लो वह बच्चा शान्त हो जाता है, सुखी हो जाता है। अब यह बतलावो कि मिला क्या किवाड़ के पिट जाने से उस बच्चे को? कुछ भी तो नहीं मिला। ऐसे ही कोई मनुष्य या कोई जीव हो, जिससे पीड़ा पहुँची हो तो उसे कोई टोक पीट दे तो यद्यपि इसे कुछ मिला नहीं है पर वह सन्तुष्ट हो जाता है तो किसी का अनिष्ट चिन्तन करने से खुद का लाभ कुछ नहीं है, बिगाड़ ही सारा है। जब बुरा चिन्तन करता है तो उस घड़ी में वह संक्लेश ही पाता है। तो भावना भावो कि स्वप्न में भी मैं किसी का बुरा विचार न करूँ। बुरे विचार से न पूजा का महत्त्व है, न धर्मपालन का महत्त्व है। धर्मक्रियायें जितनी की जाती हैं वे सब केवल श्रमरूप हैं। यदि भावना अपनी अच्छी न रही, सब जीवों के प्रति सुख शान्ति की भावना न हुई, किसी को अनिष्ट जानकर उसका अकल्याण विनाश विघात करने पर परिणाम उतारू रहे तो उसका फल अच्छा नहीं है। यहाँ कोई शरण तो है नहीं, फिर किसको प्रसन्न करने का यहाँ उद्यम करें? तो यह सावधानी होना चाहिए कि मेरा परिणाम निर्मल रहे। आर्तध्यान और रौद्रध्यान से बचें। जगत में जो-जो भी बातें अनिष्ट मानी जाती हैं वे सब कुछ भी हो जायें तब भी उससे इस जीव की क्या बरबादी है? कल्पनाएँ करते हैं और खोटी मान्यता से दु:खी होते हैं। तो ऐसा कोई विचार करे कि मैं पूर्वकाल के इस बैरी का किस समय बदला चुका सकूँगा, यह चिन्तन करना रौद्रध्यान है।

श्लोक-1227

किं कूर्म: शक्तिवैकल्याज्जीवन्त्यद्यापि विद्विष:।
तर्ह्यमुत्र हनिष्याम: प्राप्य कालं तथा बलम्।।1227।।

ऐसा विचार करे कोई कि मैं क्या करूँ, शक्ति से हीन हूँ इस कारण शत्रु अभी तक जी रहे हैं, नहीं तो मैं कभी के इनको मार डालता, ऐसा चिन्तन करना और सोचना कि कब मैं इस योग्य हो सकूँगा कि इनको मैं मार डालूँ, इस प्रकार के चिन्तन करना सो रौद्रध्यान है। कषाय के आवेश में ऐसा ही सूझता है और इसी में चतुराई मानते हैं, इसको बुरा कार्य नहीं समझो, यों वे अनन्तानुबंधी कषाय बाँध लेते हैं और उससे निरन्तर पीड़ित रहा करते हैं। कितनी मूढ़ता भरी कल्पनाएँ हैं कि किसी जीव के प्रति अनर्थ का विचार करे इस भव में मैं घात न कर सका तो अगले भव में करूँगा, इतना तक भी चिन्तन करने वाले कोई-कोई लोग होते हैं। तो यह कितनी मूढ़ता भरी बात है? ऐसा खोटा संकल्प करना भी रौद्रध्यान है।

श्लोक-1228

अभिलषति नितान्तं यत्परस्यापकारं, व्यसनविशिखभिन्नं वीक्ष्य यत्तोषमेति।
यदिह गुणगरिष्ठं द्वेष्टि दृष्ट्वान्यभूतिं भवति हृदि सशल्यस्तद्धि रौद्रस्य लिङ्गम्।।1228।।

निरन्तर दूसरे का अपकार चिन्तन करना रौद्रध्यान है। कषाय बसी है, मन ही मन गुड़गुड़ाते रहते है, अमुक का नाश हो, और कितने ही लोग तो ऐसे भी होते हैं जो मंदिर में जाकर भगवान की डेरी में पड़कर यह ध्यान करते हैं कि हे भगवन् ! अमुक व्यक्ति का नाश हो जाय। अब तो खैर धर्म में श्रद्धा ही नहीं लोगों को रही। भगवान के मंदिर में जायेंगे ही क्या, पर कभी यह बात थी कि लोगों में धर्म की श्रद्धा थी और लोगों का मंदिर जाने का नियम रहता था, तो कोई लोग मंदिर में भगवान से निवेदन करते कि हे भगवन् ! अमुक का नाश हो जाय। तो यह खोटी कल्पना कितनी मूढ़ता भरी कल्पना है? वह हृदय पवित्र है जिसमें सब जीवों के प्रति सुखी होने की भावना बने। किसी का बुरा न विचारे। गृहस्थी है तो अपना काम काज करिये, धर्मपालन भी कीजिए। पर इतना ध्यान तो सभी को रखना चाहिए कि अपने लाभ के लिए किसी भी मनुष्य का प्राणी का बुरा चिन्तन न करें कि अमुक का नाश हो, अमुक की बरबादी हो। वह पुरुष श्रेष्ठ है जिसमें यह धीरता है कि अपने काम में डटे जावो और तुमसे कोई विरोध करे, नुकसान पहुँचाये

इतने पर भी उसका हृदय से बुरा न सोचना। यह एक बड़ा आन्तरिक तपश्चरण है। जो ऐसी भावना भरेगा वह सोने की तरह तप जायगा, कुन्दन हो जावेगा, पवित्र बन जायगा, यह अभ्यास कीजिए कि किसी का भी बुरा मत होवे। चाहे किसी के द्वारा हम पर उपसर्ग आया हो और उपद्रव ढा गया हो इतने पर भी किसी का अकल्याण न विचारना ऐसा चित्त बन जाय वह एक ऊँचा तपश्चरण है। धर्म के हित उपवास करते न बने न सही, तप सामायिक ये सब चीजें न बने न सही, पूजा भी नहीं बन पाती, न सही, किन्तु इतनी सी बात जो केवल चित्त के आधीन है, भावनामयी बात है, फिर भी जिसमें कोई व्यय नहीं है और विडम्बना भी जहाँ नहीं आती, ऐसी यह भावना हृदय से बनाये तो सही, किसी ने उपद्रव भी किया हो तिस पर भी उसका बुरा न सोचना, उसका अकल्याण न सोचना, ऐसा हृदय बने तो खुद को तो लाभ हो ही गया और फिर दूसरों में भी उसकी महिमा प्रकट होगी। धर्म तो वीतराग प्रभु और ऋषियों की परम्परा से चला आया है। उनकी संतान में हम आप भी जन्मे हैं। तो यह जानकर कि धर्म कुछ अलग चीज नहीं है, यह व्यवहार धर्म, यह सब सामायिक व्यवस्था यह सब धर्म की परम्परा है। उस परम्परा में हम भी एक सहयोग दे रहे हैं। इस लोक में मेरा कोई मालिक नहीं, अधिकारी नहीं, मेरा कुछ उसमें विशेष रूप से कुछ लाभ होता हो कुछ भी नहीं है। एक धर्म यों परम्परा से चलता जाता है, उसकी ही परम्परा बनाने में एक हम भी सहयोगी हैं। तो बिना कुछ चाहे, कीर्ति चाहे बिना, अन्य प्रकार का लाभ कुछ भी चाहे बिना जितना बन सकता है, हम उस परिपाटी में सहयोग दे रहे हैं। उस परिपाटी में सहयोग देने से कहीं हमारा अलग अस्तित्त्व नहीं बन गया। हम जीव ही परिपाटी चलाने वालों में घुलमिलकर अपना कर्तव्य निभायें यह बात युक्त है। तो ऐसा विचार बने, ऐसी पवित्र भावना बने कि किसी भी जीव का अहित न सोचें तो वह धर्मभावना है, और किसी का अनिष्ट सोचना वह सब रौद्रध्यान है। किसी विपत्ति में पड़े हुए पुरुष को देखकर सन्तोष करना, देखो अच्छा हुआ, बहुत ऊधम करता था, बड़ी उद्दण्डता से रहता था, अब ठीक हुआ, होनी ही चाहिए ऐसी विपत्ति, यों किसी की विपत्ति को निरख कर कोई संतोष करता हो तो यह भी रौद्रध्यान है, खोटी भावना है। गुणों में कोई बड़ा हो, गुणवान हो, उसको देखकर द्वेष करना सो रौद्रध्यान है। गुणीजनों को देखकर मन में रोष आना। कैसे रोष आ गया? जैसा अहंकार है, अभिप्राय है और उसको डर लगा कि इसके आने के कारण हमारी बात मिट्टी में न मिल जाय, हमें फिर कोई न पूछेगा, इससे तो हमारी पोजीशन बिगड़ेगा, ऐसा आशय रहता है तब जो गुणी पुरुष हैं उनके प्रति द्वेषभाव जगता है, कहाँ से यह काँटा आ गया है, कब यह टलेगा, यों चिन्तन करना सब रौद्रध्यान है। दूसरे की विभूति को देखकर द्वेष करना, किसी के ज्यादा धन बढ़ रहा है, अपने आराम के साधन अच्छे बढ़ रहा है, और वैभव का भी विस्तार कर रहा है ऐसी विभूति देखकर द्वेष करना यह भी रौद्रध्यान है। किसी के बड़ा बन जाने से, धनी हो जाने से किसी दूसरे का क्या नुकसान पड़ता है? फायदा जितना चाहे हो सकता है। कोई धन बढ़ाकर आखिर करेगा क्या? कुछ दिन कंजूसी भले ही कर ले, किन्तु उसी का ही परिणाम कभी बदलेगा और न बदला तो मर गया। उसके पुत्रों का वह धन बनेगा, परोपकार में

वह धन लगेगा। कमाने वाला अपने पेट में खाता है क्या उस वैभव को? किसी के धन बढ़ रहा है तो बढ़ने दो, उससे भला ही है। देश का लाभ है, गाँव का लाभ है, पड़ौसियों का लाभ है, सबका ही लाभ है। कोई अगर विभूति में बढ़ रहा है तो उसको निरखकर द्वेष करना यह खोटा ध्यान है। जो रौद्रध्यानी पुरुष है वह शल्यसहित रहता है, ऐसे ध्यान का त्याग करना चाहिए और शान्ति के पथ में बढ़ना चाहिए।

श्लोक-1229

हिंसानन्दोद्भवं रौद्रं वक्तुं कस्यास्ति कौशलम्।
जगज्जन्तुसमुद्भूतविकल्पशतसम्भवम्।।1229।।

हिंसा में आनन्द मानने से जो रौद्रध्यान बना उस रौद्रध्यान की बात को कहने के लिए किसके कुशलता है, रौद्रध्यान में कितना खोटापन है वह बताने में कोई समर्थ नहीं है। रौद्रध्यान आर्तध्यान से भी बुरा है? आर्तध्यान में विवशता है, करे क्या, कुछ ऐसी भी बात है। शरीर में रोग बढ़ गया, भूख बढ़ गयी, जुखाम, खाँसी, ज्वर आदिक हो गया, उसमें कुछ पीड़ा होने लगी, विवश है लेकिन रौद्रध्यान में क्या विवशता है? किसी ने कोई जबरदस्ती की क्या, कोई अटकी थी क्या कि कोई तो तड़फे, किसी का तो घात हो और यहाँ यह संतोष करे, अच्छा हुआ, बहुत उद्दण्ड था, हमसे सीधी बात भी न करता था। अब आपत्ति में पड़ गया, उसका संतोष कर रहा है। इसमें कौन विवशता की बात है? तो यह रौद्रध्यान एक उद्दण्डता की बात है और इसमें बहुत क्रूर आशय होता है। ऐसा ध्यान तो नरक आदिक गतियों का कारण है। हिंसा में आनन्द मानने से जो रौद्रध्यान उत्पन्न होता है वह रौद्रध्यान सैकड़ों विकल्पों से उत्पन्न हुआ, इसके परिणाम अनेक पुरुषों को अनेक प्रकार के होते हैं, वे कहने में आ नहीं सकते। किसी का किसी प्रकार का रौद्रध्यान, कोई किसी तरह का मौज मान रहा, कोई हिंसा में, कोई झूठ में, कोई चोरी में, कोई कुशील में, कोई परिग्रह में इन अनात्म भावों में मौज माना जा रहा है, ये कितनी तरह के परिणाम है। उनको कहने के लिए किसमें कुशलता है, अर्थात् कोई नहीं कह सकता।

श्लोक-1230

हिंसोपकरणादानं क्रूरसत्त्वेष्वनुग्रहं।
निस्त्रिंशतादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिन:।।1230।।

हिंसा के उपकरण जो शस्त्र आदिक हैं उनका संग्रह करके ग्रहण करना यह रौद्रध्यान का चिन्ह है। तलवार को पैनी देखते ही जो खुश होता है, जो छुरी को देखकर मौज मानता है, यह ठीक है, बहुत रुचि से देखा है उसमें आशय कितने बुरे पड़े हुए हैं? तो जो पुरुष हिंसा के उपकरणों को ग्रहण करे किसी के वध के लिए प्रदान करे वे सब रौद्रध्यान हैं। ये रौद्रध्यान के चिन्ह हैं और एक चिन्ह यह है कि निर्दय मनुष्यों का अनुग्रह करके जो निर्दयाचित्त है, हिंसक है, शिकारी है, जीवों का वध करने वाला है ऐसे प्राणी का भला करना, उसकी सहायता करना, उसकी पूंजी बनाना आदिक ये सब रौद्रध्यान करने वाले पुरुषों के चिन्ह हैं। और निर्दयता का परिणाम होना ये सब रौद्रध्यानी पुरुष के बाह्य चिन्ह होते हैं। इस प्रकार हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान का वर्णन किया गया, अब मृषानन्द नाम के द्वितीय रौद्रध्यान का वर्णन कर रहे हैं।

श्लोक-1231

असत्यकल्पनाजालकश्मलीकृतमानसः।
चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीत्तितम्।।1231।।

जो मनुष्य असत्य झूठ अहितकारी कल्पनाओं के समूह से पापी बनकर मलिन हृदय होकर कुछ भी चेष्टा करे उसके निश्चय करके मृषानन्द नाम का रौद्रध्यान कहा गया है। झूठ को अच्छा बताने में, झूठ का पक्ष करने में, झूठी गवाही गढ़ने में आनन्द मानना, ये सब मृषानन्द नाम का रौद्रध्यान हैं। जब कभी कई लोगों की गोष्ठी बैठ जाती है, गप्पें चलती हैं, रात्रि के 10-12 बज जाते हैं तो उन गप्पों में जो मौज लिया जाता वह सब रौद्रध्यान है, और उन्हीं गप्पों में कोई बात ऐसी मजाक में निकल जाती कि कहो लड़ाई हो जाय। तो कितनी ही विडम्बनाएँ सामने आती हैं। तो कुछ भी बोले— हित, मित, प्रिय बोले। झूठी बात बोलना, झूठी गवाही देकर किसी को फँसाना, और-और भी बातें हैं उनसे इस जीव का कौनसा हित हो गया? धर्म का लाभ होता हो तो बतावो। समस्त क्रियावों का प्रयोजन है धर्म का लाभ होना, धर्म की प्रभावना होना, स्वयं में धर्म का विकास हो। तो इस मृषानन्द नाम के रौद्रध्यान से इस जीव को कौनसे हित की प्राप्ति है? ऐसे असत्य कल्पनाओं के समूह से जो चेष्टा की जाती है वह निश्चय से मृषानन्द नाम का रौद्रध्यान कहा गया है। मृषा मायने असत्य उसमें आनन्द मानना सो मृषानन्द नाम का रौद्रध्यान है। विद्यार्थी अवस्था में भी एक दूसरे को छकाना, धोखा देना और ऐसी बात बोलना जिससे दूसरे का नुकसान हो और खुद का

लाभ हो, ऐसी जो गप्पें चलती हैं वह मृषानन्द नाम का रौद्रध्यान है। एक भाई ने बताया कि एक बार ऐसा हुआ कि कोई एक छात्र लड्डू लेकर आया, उसे देखकर कई लड़कों ने कहा कि अमुक जगह आज एक हाथी को फाँसी दी जायगी, सो हम लोग देखने जा रहे हैं। उस लड्डू लाने वाले लड़के ने क्या किया कि लड्डू रखकर बड़ी जल्दी दौड़कर उस दृश्य को देखने चला गया। इधर लड़कों ने सारे लड्डू खा डाले। तो दूसरे को धोखा देकर अपना काम बना लेने का जो परिणाम है यह परिणाम रौद्रध्यानी पुरुष के होता है। तो यह जो मृषानन्द की प्रीति है वह मृषानन्द नाम का रौद्रध्यान है।

श्लोक-1232

विधाय वञ्चकं शास्त्रं मार्गमुद्दिश्य निर्दयम्।
प्रपात्य व्यसने लोकं भोक्ष्येऽहं वाञ्छितं सुखम्।।1232।।

जो पुरुष इस जगत में ठगिया शास्त्रों को बनाकर निर्दय मार्ग का उपदेश करके, लोगों को आपत्ति में डालकर चाहते हैं कि मैं वाञ्छित सुख भोगूँ यह मृषानन्द नाम का रौद्रध्यान है। जैसे किसी समय ऐसे शास्त्र गढ़े गये कि यज्ञ में पशुवों के होमने से पशुवों को भी स्वर्ग मिलता है और यज्ञ करने वालों को भी। चर्चा करते-करते में पक्ष पड़ गया। वह पक्ष इतना कठिन बन गया कि जो शास्त्र रचने में उनको उतारू होना पड़ा। कितना बुरा हुआ, कितना अनर्थ हुआ, कितने ही प्राणियों को विपत्ति में डाला। वह शास्त्र रचने वाला पुरुष चाहे दो चार पुरुषों को अपने हाथ से मार डालता तो दो चार ही तो मरते, पर ऐसे खोटे शास्त्र रचे जिनमें पशुवों की बलि का उपदेश दिया गया। अब उनके इस कुशास्त्र की रचना से कितने जीवों का अनर्थ हुआ? हजारों कह लो, लाखों भी कह लो। तो यह सब मृषानन्द रौद्रध्यान है। ऐसा करने वाले किस गति में गए होंगे? क्या उनका भवतव्य होगा। सीधी सी बात है कि यदि अपनी भलाई करना है तो सरल बनें और शुद्ध तत्त्वज्ञान उत्पन्न करें, धर्मलाभ लें और चूँकि गृहस्थ हैं तो न्यायपूर्वक सच्चाई सहित अपनी आजीविका बनाये रहें। करना तो यों है और खोटे भाव बनाना, दूसरे जीवों का अनर्थ सोचना— ये सब तो इस जीव को भयंकर दुर्गति के देने वाले परिणाम हैं।

श्लोक-1233

असत्यचातुर्यबलेन लोकाद्वितं ग्रहीष्यामि बहुप्रकारं।

तथाश्र्वमातङ्गपुराकराणि कन्यादिरत्नानि च बन्धुराणि।।1233।।

असत्य की चतुराई के बल से लोगों से बहुत प्रकार का धन ग्रहण कर लूँगा, ऐसा ध्यान रखना सो मृषानन्द नाम का रौद्रध्यान है। बेईमानी, असत्य, ऐसी बोल बोलना जिससे दूसरे को विश्वास उत्पन्न करा दे, ऐसे असत्य की चतुराई के बल से मैं अमुक से बहुत प्रकार का धन ग्रहण कर लूँगा इस प्रकार की वासना रखना सो मृषानन्द नाम का रौद्र है। तथा घोड़ा, हाथी, नगर, रत्नों के समूह, सुन्दर कन्या आदिक रत्नों को ग्रहण करूँगा, असत्य की चतुराई से मनमाना धन वैभव ग्रहण करूँगा, इस प्रकार का चिन्तन रखना मृषानन्द नामक रौद्रध्यान है।

श्लोक-1234

असत्यवाग्वञ्चनया नितान्तं प्रवर्त्तयत्यत्र जनं वराकम्।
सद्धर्ममार्गादतिवर्त्तनेन मदोद्धतो यः स हि रौद्रधामा।।1234।।

असत्य वचनों की ठगाई से निरन्तर जो इस अबुद्ध मनुष्य का प्रवर्तन करता है वह पुरुष समीचीन पद से च्युत होने के कारण वह रौद्रध्यान है। असत्य मार्ग में जो दूसरे को लगा दे ऐसा असत्य सम्भाषण भी रौद्रध्यान है। रौद्रध्यान में चूँकि जीव आनन्द मानता है इस मौज के समय में इस जीव को अपने आपकी सुध नहीं रहती कि मैं कोई पाप कार्य कर रहा हूँ। तो रौद्रध्यान इतना खोटा ध्यान है तभी तो रौद्रध्यानी पुरुष नरकगामी होता है। तो दूसरे को समीचीन मार्ग से हटाकर असत्य मार्ग में लगा दे ऐसा सम्भाषण करे ऐसा पुरुष रौद्रध्यानी है।

श्लोक-1235

असत्यसामर्थ्यवशादरातीन् नृपेण वान्येन च घातयामि।
अदोषिणां दोषचयं विधाय चिन्तेति रौद्राय मता मुनीन्द्रैः।।1235।।

मैं देश को समूह को सिद्ध करके, अपनी चतुराई से अमुक के द्वारा या राजा के द्वारा अमुक का घात कराऊँगा, इस प्रकार का चिन्तन करना सो रौद्रध्यान कहलाता है। सुदर्शन सेठ के समय में रानी ने उससे दुर्व्यवहार करने को कहा। सेठ सुदर्शन ने कहा कि ऐ माँ ! मैं तो शीलवान हूँ, इस प्रकार का खोटा कार्य मैं नहीं कर सकता। तब रानी को क्रोध जगा और झट उसके प्राणघात की बात सोची। अपने कपड़े फाड़ लिए और सेठ सुदर्शन पर झूठा आरोप लगाया और जब वह फाँसी पर चढ़ाया गया तो उस समय उसके पुण्य के प्रताप से उसकी देवों ने रक्षा की। लेकिन उस समय रानी को इतना विकट रौद्रध्यान रहा कि...तो असत्य सम्भाषण करके दूसरे के प्राणघात करा देना यह रौद्रध्यान है। प्राय: सभी मनुष्य करोड़ों में बिरले ही एक दो लोगों को छोड़कर रौद्रध्यानी समाज मिलेगा। जिसको अपने स्वार्थ की गरज है, अपने विषयसाधनों की गरज है और दूसरे का कुछ भी हो, दूसरों का चाहे अहित हो जाय, पर कुछ परवाह नहीं रखते, ऐसे पुरुष विकट रौद्रध्यानी ही तो हैं। इसमें सार कुछ नहीं मिलता। जीव पर बात वह गुजरती है जैसा कि यह जीव परिणाम करता है। खोटे परिणाम करने का फल बाद में भी भोगेगा, किन्तु तत्काल भी भोग लेता है। खोटे परिणामों से शान्ति प्राप्त नहीं होती। तो अशान्ति का फल तो उसने तुरन्त भोग लिया। अब जो कर्मबन्ध होगा उसके फल में जो बात बीतेगी भविष्य में उसे भोग लेगा। तो खोटे परिणाम में जीव को कुछ लाभ नहीं है। कुछ पैसा कम आता है तो इसमें कुछ आपत्ति आती है क्या? खोटे परिणाम न करना, यह तो अपने आप पर बहुत बड़ी दया है, इससे इतना विशेष पुण्यबंध होगा कि कुछ ही काल बाद उसे मनोवाञ्छित विभूति प्राप्त हो सकती है।

रौद्रध्यान एक विकट बुरा ध्यान है उससे हम बचे रहें। ऐसा कार्य करें ऐसा सत्संग बनायें स्वाध्याय का, धर्म का, ज्ञान चर्चा का, पढ़ने पढ़ाने का अथवा दीन दुखियों के उपकार का तो यह अपने भले की बात है। जो लोक में बड़े सुखी हैं, बड़े आराम से ठाठ से रहते हैं, बहुत वैभव है, बड़ी कारें हैं, बहुत आराम है ऐसों के संग में रहने से लाभ क्या? और गरीब यदि किसी धनिक की मित्रता करे तो लुटेगा वही गरीब ही धनिक न लुटेगा। तो ऐसे पुरुषों का संग करने से लाभ क्या है? संग तो ऐसा करें, विश्वास तो ऐसों के बीच रखें कि जिसमें प्रभु की सुध रहे और अपने आत्मा की सुध रहे। बाहर चलते फिरते में जो दु:खी पशुवों को देखते हैं, बड़ा बोझ लादते हैं, फिर भी बड़े चाबुक मारे जा रहे हैं आदिक अनेक ढंग जो दिखते हैं उनको देखकर भी आत्मा को लाभ है, दया तो आती है, भीतर में नम्रता तो जगती है और सुध तो होती है कि अज्ञान दशा में रहने का यह फल होता है। यदि हम भी इन पशुवों की ही तरह अज्ञानी बने रहे तो ऐसे ही कष्ट भोगने पड़ेंगे। उन बड़े रईसों के संग में रहकर क्या करें जो ठीक तरह से बात भी नहीं करते और अपने स्वार्थ की बात कुछ बन रही हो तो गरीबों की पूछ कर सकते हैं। ऐसे लोगों के संग में रहकर न तो धर्म का लाभ, न पुण्य का लाभ। उल्टा अशान्ति है और देख देखकर कायर वृत्ति से रहना पड़ता है। उसके पाप और रहते हैं। तो सत्संग हो गुणियों का, रोगियों की सेवा में आयें ऐसी-ऐसी बातें जो अपने को सावधान

बनाये रहें वह तो है लाभ का संग, और जो ईर्ष्या बढ़ायें, द्वेष बढ़ायें, तृष्णा बढ़ायें, कायरता बढ़ायें ऐसे संग ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। तो मैं ऐसे असत्य की सामर्थ्य का प्रभाव बताऊँगा कि इस दुश्मन को मैं राजा के द्वारा प्राणघात कराऊँगा या किसी दूसरे के द्वारा। एक नाई था उसने किसी सेठ की हजामत बनाई, हजामत बनाने में किसी एक जगह छुरा लग गया। जब हजामत बन चुकी तो सेठ ने पूछा कि कितनी जगह छुरा लगा। तो नाई डरते हुए कहता है कि एक जगह, नाई ने सोचा कि कहो सेठ जी ने पैसे भी न दें। पर सेठजी ने उसे दो रुपये दिये। नाई ने सोचा कि एक जगह छुरा लगा इसलिए दो रुपये मिले यदि दो जगह छुरा लगता तो चार रुपये मिलते। सोचा कि यह तो पैसा कमाने का अच्छा उपाय मिल गया। सेठ ने जो उसे इनाम दिया था वह अच्छे आशय से नहीं बल्कि बुरे आशय से दिया था। सेठ जी का आशय था कि और किसी के अगर छुरा मारा तो इसे उसका बुरा फल मिलेगा। आखिर हुआ भी ऐसा ही। किसी बाबूजी की हजामत बनाई तो दो जगह छुरा मार दिया। नाई तो सोचता था कि एक जगह छुरा मारने से 2 रु. मिले थे तो दो जगह छुरा मारने से बाबूजी 4 रु. देंगे, पर हुआ क्या कि बाबूजी ने उतारकर उसके चार छः जूते मारे। तो सेठ का वह दान रौद्रध्यान कहलाया।

श्लोक-1236

पातयामि जनं मूढं व्यसनेऽनर्थसंकटे।
वाक्कौशल्यप्रयोगेण वाञ्छितार्थप्रसिद्धये।।1236।।

कोई इस प्रकार विचार करे कि मुझमें वचन बोलने की इतनी प्रवीणता है कि उसके प्रयोग से में वाञ्छित प्रयोजन की सिद्धि के लिए मूढ़ जनों को अनर्थ संकट में डाल दूँ, ऐसा मैं चतुर हूँ, ऐसा अपने आपमें चतुराई का अभिमान रखकर मौज करना यह सब रौद्रध्यान है।

श्लोक-1237

इमान् जडान् बोधविचारविच्युतान् प्रतारयाम्यद्य वचोभिरुन्नतैः।
अमी प्रवतर्स्यन्ति मदीयकौशलादकार्यवर्गेष्विति नात्र संशयः।।1237।।

ऐसा विचार करना कि यह तो ज्ञानरहित मूर्ख प्राणी है, इसको अपनी प्रबल चतुराई के बल से देखो मैं अभी ठगे लेता हूँ। मैं ऐसा चतुर हूँ, ऐसी चतुराई का अपने मन में संतोष करना यह सब है रौद्रध्यान। वस्तुत: देखो तो कोई दूसरे को यदि ठगता है तो उसने अपने आपको ही ठगा। दूसरे का तो पैसा ही कुछ गया होगा और कुछ नहीं बिगड़ा, लेकिन जो दूसरे को ठगता है उसका चूँकि अभिप्राय दूषित है इसलिए वह स्वयं अपने आपको दुर्गति में डालता है, पापबंध करता है, अपने आपके भविष्य को वह अंधेरे में डालता है। यदि कोई ऐसा चिन्तन करे कि मैं वचनों की प्रवीणता से इन भोले जीवों को अभी ठगे लेता हूँ तो वह रौद्रध्यान है। कभी-कभी ऐसा होता है कि कुछ देहाती पुरुषों को पाकर शहरी लोग उन्हें बेवकूफ बनाते हैं और हर्ष मानते हैं, अपने को बड़ा चतुर तथा उन देहात के लोगों को बेवकूफ अनुभव करते हैं और उनमें अपनी कुछ चतुराई बगराकर मौज मानते हैं, यह रौद्रध्यान है। ये ज्ञानरहित मूर्ख प्राणी हैं इनमें में अपनी चतुरता दिखाकर कुछ पैसा कमा लूँगा, इस प्रकार की भावना बनाना रौद्रध्यान है। बहुत पहिले जमाने में शादियां छोटी उम्र में हो जाया करती थी। उस समय दूल्हे को बेवकूफ बनाने का रिवाज था। कहीं जूते छिपाकर रख दिया और किसी चीज से ढाक दिया और कह दिया कि इसके पैर छू लो, यह अमुक देव है, कहीं चक्की के पाट को, कहीं मूसल आदि को बता दिया कि इसके पैर छू लो यह अमुक देव है। यों बेवकूफ बनाने का रिवाज था। वह पैर छू लेता था और सभी देखने वाले लोग हँसने लगते थे, वह भी तो रौद्रध्यान है। दूसरे जीव का अनादर करना, अपनी चतुराई समझना और उसमें हर्ष मानना, यह रौद्रध्यान है।

श्लोक-1238

अनेकासत्यसंकल्पैर्य: प्रमोद: प्रजायते।
मृषानन्दात्मकं रौद्रं तत्प्रणीतं पुरातनै:।।1238।।

इसी प्रकार ऐसे भी अनेक प्रकार से जो हर्ष किए जाते उसे भी महर्षि जनों ने रौद्रध्यान कहा है। अभी मित्रगोष्ठी में जब गप्पवाद होने लगता है तो वहाँ आपस में छींटाकंसी, एक दूसरे का उपहास, एक दूसरे को बेवकूफ बनाना इसमें हर्ष माना जाता है। होली के दिनों में जो खेल रचा जाता फाग करने का, कीचड़ उछालने का तो उसमें कीचड़, रंग, गुलाल आदि एक दूसरे पर डालकर लोग हर्ष मानते हैं। कोई मना भी करता है पर नहीं मानते हैं, और खुश होते जाते हैं, ये सब रौद्रध्यान हैं। रौद्रध्यान से यह जीव अब तक इस संसार में जन्म–मरण के चक्र लगाता आ रहा है। कुछ उसमें परिवर्तन करना चाहिए। जगत में कौनसा स्थान ऐसा है कि जहाँ हम अपनी साज सामान बना लें कि कहीं भी कुछ नहीं है। अपने आपका तो अपना

परिणाम ही रक्षक है। दूसरा कोई रक्षा करने वाला नहीं है। किसी भी पुरुष का हम अनिष्ट चिन्तन न करें, कैसा ही कुछ हो, उपद्रव भी आया हो किसी दूसरे के द्वारा तो आया है उदय है कर्म का, बन गया, ऐसा मानकर उपद्रव भी सह लें, परन्तु किसी पुरुष का स्वप्न में भी अनिष्ट चिन्तन न करें, ऐसा गम्भीर हृदय होना चाहिए। इसका परिणाम चाहे इस लोक में न दिखे किन्तु आगे अवश्य अच्छा परिणाम मिलेगा। धर्म का, सुख शान्ति का वातावरण मिलेगा। सब जीव सुखी हों ऐसी भावना में ही समय बितायें। ये सब बातें आगे जब धर्मध्यान का प्रकरण चलेगा वहाँ विस्तारपूर्वक आचार्यदेव वर्णन करेंगे, पर इस आर्तध्यान रौद्रध्यान के प्रकरण में हमें यह शिक्षण लेना चाहिए कि हे प्रभो ! मुझमें वह सामर्थ्य प्रकट हो कि मैं सबके उपद्रव तो सह लूँ पर किसी का बुरा न विचारूं। प्रभु की भक्ति करते समय लोग यह खूब प्रार्थना करते हैं कि हे नाथ ! मुझ पर कभी कोई विपत्ति न आये पर प्रभु से ऐसा मांगने से काम कुछ नहीं बनता है। जब विपदा आने को होती है तो आती ही है। प्रभु से तो ऐसी प्रार्थना कीजिए कि हे प्रभो ! मुझमें ऐसा बल प्रकट हो कि सारे उपद्रव और विपदावों को मैं हँस खेलकर सह लूँ। ऐसी भावना बनायें तो इससे कुछ लाभ भी है। विपदावों से बचने की प्रार्थना करने में लाभ कुछ नहीं है, क्योंकि वह एक कायरता भाव है और जब जो विपदा उदय में आने को है वह आती ही है। उससे तत्त्व कुछ नहीं निकलता। और यह ध्यान करें कि हे नाथ ! मुझमें ऐसा बल आये कि समस्त विपदाओं को मैं समता से सहन कर लूँ तो इसमें लाभ यों है कि कुछ तो अपने आपके बल बढ़ाने पर दृष्टि जगी। और दूसरी बात प्रभु से मांगी गई वह बात मुझमें ही मिल सकती है, इस कारण विपदा में धीर रह सकूँ ऐसी प्रार्थना प्रभु से करें तो इससे लाभ है। जो विपदा से बचने की प्रभु से प्रार्थना करते हैं वह अज्ञानता का काम है। अज्ञानी को तो जगह-जगह विपदा है तो भावना ऐसी बने कि मुझ पर कितने ही उपद्रव आयें पर मैं उनसे डरकर अपने शान्तिपथ से विचलित न हो सकूँ, ऐसी भावना लाभकारी है। आर्तध्यान और रौद्रध्यान में समय गुजारना, यह कल्याणकारी उपाय नहीं है।

श्लोक-1239

चौर्योपदेशबाहुल्यं चातुर्यं चौर्यकर्मणि।
यच्चौर्यैकपरं चेतस्तच्चौर्यानन्द इष्यते।।1239।।

अब रौद्रध्यान का तीसरा भेद चौर्यानन्द है, उसका वर्णन कर रहे हैं। चोरी के कार्यों के उपदेश की अधिकता होती है अथवा उपदेश करना, चौर्य कर्म में चतुरता होना, चोरी के कार्यों में ही चित्त लगाये रहना, सो चौर्यानन्द नाम का रौद्रध्यान है। खुद चोरी भी न करे और दूसरों को चोरी करने का उपाय बतावे वह सब

चोरी है। चाहे सरकारी, सरकारी टैक्स वगैरह की चोरी हो, चाहे जनता के कार्यों के लुके छिपे करने की चोरी हो, उनका करना अथवा उपदेश करना सो चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। चौर्य कर्म में चतुराई मानना, तथा चोरी की विधियों में प्रवीणता अनुभव करना, मैं इन-इन विधियों से लोगों को धोखा दे सकता हूँ, यों चौर्यकर्म में चतुराई होना और उसका अहंकार रखना यह सब चौर्यानन्द है। किसी से चीज खरीदने में यह चीज मेरे पास ज्यादा आ जाय, ऐसा चिन्तन करना रौद्रध्यान कहलाता है।

श्लोक-1240

यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते,
कृत्वा चौर्यमपि प्रमोदमतुलं कुर्वन्ति यत्संततम्।
चौर्येणापि हृते परै: परधने यज्जायते संभ्रम–
स्तच्चौर्यप्रभवं वदन्ति निपुणा रौद्रं सुनिन्दास्पदकम्।।1240।।

चोरी के काम के लिए निरन्तर चिन्ता बनी रहे, विचार चलता रहे, किसी तरह से मैं अधिक धन प्राप्त कर लूँ चोरी करके भी हर्ष मानना, आनन्दित होना, किसी की नजर बचाकर या कोई धोखा देकर कोई चीज विशेष ग्रहण कर लेवे तो उसमें आनन्द मानना कि देखो हमने कैसा धोखा दिया कि इतनी चीज अपने को विशेष मिल गयी। अथवा जैसे कोई रेलगाड़ी में बिना टिकट चलता है तो कैसा वह टिकटचेकर को धोखा देकर नजर बचाकर आता है और लोगों से अपनी चतुराई की बात कहता हे कि देखो कैसा मैंने टिकटचेकर को उल्लू बना दिया, यह सब चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। अन्य कोई अनुभव के द्वारा परधन को हर ले तो यह भी चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। कोई परधन चुरा लेने की बात बहुत सफाई से कहे उसमें उसे शाबासी देना, इसमें बड़ी कला है यह सब चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। यह ध्यान विशेषतया निन्दा का कारण है।

श्लोक-1241

कृत्वा सहायं वरवीरसैन्यं तथाभ्युपायांश्च बहुप्रकारान्।
धनान्यलभ्यानि चिरार्जितानि सद्यो हरिष्यामि जनस्य धात्र्याम्।।1241।।

चौर्यानन्द रौद्रध्यान का स्वरूप कहा जा रहा है। जीव के अनेक पापबंध का कारण यह है चौर्यानन्द। हिंसानन्द और मृषानन्द इन दो का वर्णन किया ही जा चुका था, अब इस प्रसंग में चौर्यानन्द नामक रौद्रध्यान कहा जा रहा है। कोई ऐसा चिन्तन करे कि मुझमें ऐसी कला है, ऐसा बल है कि मैं बड़े-बड़े सुभटों की सहायता से अनेक उपाय करके तत्काल ही दूसरे का धन हर सकता हूँ। यह धन इस पृथ्वी में बड़ी मुश्किल से मिलता है। बहुत काल से जो संचित किया हुआ भी हो लेकिन मैं उस सब धन को बड़ी कला से सुभटों की सहायता से, राजा से, बल से हर लाऊँगा ऐसा मैं प्रवीण चोर हूँ। यों अपने मन में चोरी की कला का अभिमान रखना और उसमें प्रसन्नता अनुभव करना सो सब चौर्यानन्द नामक रौद्रध्यान है।

श्लोक-1242

द्विपदचतुष्पदसारं धनधान्यवराङ्गनासमाकीर्णम्।
वस्तु परकीयमपि मे स्वाधीनं चौर्यसामर्थ्यात्।।1242।।

द्विपद और चतुष्पदों में जो उत्तम है, चाहे घोड़ा हो, गाय हो, हाथी हो अथवा कोई भी उत्तम जानवर हो ये सब मेरे आधीन हैं ऐसा कोई विचार करे तो वह सब चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। लोग धन को प्राण की तरह मानते हैं इसीलिए यह बड़ी प्रसिद्धि है कि धन ग्यारहवां प्राण है। 10 प्राण तो सिद्धान्त में माने गए हैं— 5 इन्द्रिय, तीन मनोबल, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु। परलोक में इस धन को भी ग्यारहवां प्राण माना गया है। एक हितोपदेश में कथानक आया है कि एक संन्यासी सत्तू मांग लाता था लोगों से और सत्तू की पोटली बनाकर खूँटी पर टाँग देता था। वहाँ एक बड़ा मोटा चूहा रहता था जो उस पोटली को रोज-रोज कुछ काट देता था और कुछ सत्तू खा लेता था। संन्यासी उस चूहे से बड़ा हैरान हो गया। एक दिन उसने सोचा कि मैं चूहे के रहने की जो जगह है, चूहे का जो घर है उसी को मैं नष्ट कर दूँ। चूहे तो बिल में रहा करते हैं। सो जब उस चूहे के बिल को खोद रहा था तो उसमें से निकला बहुत सा धन। अब वह चूहा उसी धन के इर्द-गिर्द फूलकर प्रसन्न रहा करता था इसलिए मोटा हो गया था, पर जब वह धन उस जगह न रहा तो उसकी चिन्ता में उसकी यह हालत हो गयी कि खाना-पीना तक न सुहाये। कुछ ही दिनों में वह चूहा सुखकर एकदम दुबला पतला हो गया था। तो इस कथानक में बताया है कि देखो एक चूहे की उस धन के पीछे यह हालत हो गयी तो फिर किसी मनुष्य का धन यदि नष्ट हो जाय, चोरी चला जाय तो उसकी क्या हालत होती होगी? वह तो उन्मत्तसा हो जाता है। तो यह धन लोक में प्राण की तरह माना गया है। इसके हरने के लिए जो चिन्तन करता है समझ लीजिए कि बराबर वह पाप कर रहा है। कितना

कष्ट होता है जिसका माल लुट जाय? इसलिए चोरी का पाप बड़ा विषम है और दुर्गति का कारण है। फिर दूसरी बात यह है कि इससे कितना मिथ्यात्व पुष्ट होता है कि जरा भी दूसरे की परवाह नहीं रख रहा। जीव के प्रति अनुकम्पा नहीं, जीव के स्वरूप का भान नहीं, अपने हित का कोई ख्याल नहीं तो समझ लीजिए कि मिथ्यात्व की कितनी अधिक पुष्टि की गई? इससे कितना अधिक पाप का बंध हुआ? तो परधन हरण करने का चिन्तन भी एक बहुत खोटा पाप है। कम से कम इतना तो सबके चित्त में होना चाहिए कि जनता का, पड़ोसी का, किसी का भी हम अन्याय से, छल से किसी भी प्रकार हरण न करें, उचित ही बर्ताव रखें। किसी के चित्त को न सतायें। सबके मन में ऐसी बात आना चाहिए कि जो परधन हरण करता है वह प्राणघात करने के समान पाप बाँधता है।

श्लोक-1243

इत्थं चुरायां विविधप्रकार: शरीरिभिर्य: क्रियतेऽभिलाष:।
अपारदु:खार्णवहेतुभूतं रौद्रं तृतीयं तदिह प्रणीताम्।।1243।।

इस प्रकार चोरी में जीवों के द्वारा जो अनेक प्रकार की वाञ्छा की जाय सो रौद्रध्यान है। यह रौद्रध्यान अपार दु:खरूपी समुद्र में पटकने का कारणभूत है। रुद्र अभिप्राय करके जो ध्यान बनता है सो रौद्रध्यान है। रुद्र मायने क्रूर। अपने विषयसाधन चाहिए, दूसरे का कुछ भी हो इस प्रकार का परिणाम उसके होता है जो निर्दय है, करुणाहीन है। तो रुद्र आशय है यह। अपना विषय तो रुचे और उसे दूसरे की परवाह न रहे। इस रौद्रध्यान के कारण जीव के एकदम प्राय: नरकगति का बंध होता है। दु:ख में तो यह सम्हल भी सकता है, पर विषयों के सुख में और पाप करके, छल करके विषयों में या हिंसा में, झूठ में, चोरी में, कुशील में आनन्द मानने से इतना तीव्र पापबंध होता है कि उसे नरकगति का बंध होता है। परिणामों की निर्मलता रहे इससे बढ़कर और कुछ धन नहीं है। स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि यदि पाप रुक गया तो जगत की अन्य सम्पदा से क्या प्रयोजन? यदि पाप-कर्म रुक गया, पवित्र हृदय हो गया तो उसने सब कुछ वैभव पा लिया। अब जगत की अन्य विभूतियों से उसे क्या प्रयोजन? यह तो विभूति कुछ भी चीज नहीं है, अपने परिणामों की पवित्रता ही एक उत्कृष्ट विभूति है। यदि पाप नहीं रुके, पाप का बंध चल रहा है तो समझिये कि लोक की विभूति कितनी भी इकट्ठी हो जाय, उससे फायदा कुछ न निकलेगा, पाप का उदय आयगा और उसके अनुसार इसे दुर्गति सहनी पड़ेगी। इस कारण यह निर्णय रखना चाहिए कि हमारा परिणाम पवित्र रहे, विषयकषायों से निवृत्त रहे, अपने सहजज्ञानस्वरूप की दृष्टि बनी रहे। संसार शरीर भोगों

से विरक्ति का परिणाम रहे, ऐसी पवित्रता के साथ जीवन गुजरे तो वह लाभ की बात है। अपनी पवित्रता नष्ट करके यदि लोक की कितनी भी सम्पदा मिले तो उस सम्पदा से अपने आत्मा का कुछ भी लाभ नहीं है। यह चौर्यानन्द रौद्रध्यान की बात कही जा रही है। वस्तुत: अध्यात्मपद्धति से देखो तो जो आत्मतत्त्व नहीं है ऐसे परभाव को अंगीकार करना, उसमें मौज मानना वह अध्यात्म विधि में चोरी बतायी गई है। जैसे देह न्यारा है और आत्मा न्यारा है तो देह परवस्तु हुई ना। मेरे आत्मा की निजी वस्तु क्या है? अपनी आत्मा के गुण अपनी-अपनी आत्मा के विशुद्ध परिणमन। यह तो अपने आत्मा की वास्तविक चीज है। देह तो परचीज हुई ना, अपने आत्मस्वरूप को निरखकर बोलो, अब इस देह परचीज को अपना लेना यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह मेरा देह है, मैं भला चंगा हूँ आदिक में अपनी बुद्धि लगाना, देह को स्वीकार करना बस हो गयी चोरी। जैसे लोक व्यवहार में भी होता क्या है? चोरी करने वाला अपने चित्त में यह भाव तो भरता है कि लो अब यह धन मेरा हो गया। किसी दूसरे के घर से धन उठाकर अपने घर कोई रखे तो वह यही तो सन्तोष करता है कि लो अब यह धन मेरा हो गया। परिणाम के सिवाय चोरी भी करता है क्या सो बतावो। यह बात मिथ्यात्व में हुई। परिणाम ही तो किया। यह देह मैं हूँ, यह देह मेरा है, बस चोरी हो गयी। अध्यात्मदृष्टि में अपने आत्मस्वरूप को लखकर परस्वरूप में लगना यह चोरी है। इस चोरी से तो संसार में कौन बचा है? हाँ जो तत्त्वज्ञानी पुरुष हैं, विवेकशील हैं, जिसके सम्यक्त्व जगा है वे ही अपने आशय में यह समझ पाते हैं कि मेरे आत्मा का तो मेरा ज्ञानस्वभाव ही सब कुछ है। अन्य कुछ विकार रागद्वेषभाव अथवा पुद्गल धर्म अधर्म ये सब मेरे नहीं हैं, यों सम्यग्दृष्टि पुरुष किसी भी परतत्त्व को यह स्वीकार नहीं करता कि यह मेरा है, किसी परवस्तु को अपनी मानना यह अध्यात्म दृष्टि से चोरी है। तो इतना निर्मल परिणाम बने, ऐसा तत्त्वज्ञान जगे कि यह भी निरखते रहें कि मेरे आत्मा का तो केवल स्वभाव गुण ज्ञान आनन्द यही है, इसके अतिरिक्त जो भी विडम्बनाएँ हैं वे सब परवस्तु हैं, उनका स्वीकार करना सो चोरी है। देखिये चोरी करने वाले लोग कभी धनिक नहीं हुए, डाका डालने वाले लोग कभी खुश नहीं रहे क्योंकि पापकर्म से उत्पन्न किया गया धन टिक नहीं सकता। चित्त उसका डगमग रहेगा यत्रतत्र डोलेगा, जमकर न रह सकेगा, फिर समृद्धि कैसे उत्पन्न हो? जो पुरुष नीति से रहते हैं, न्याय नीति से धन कमाते हैं वे पुरुष अनाप-सनाप विषयकषायों में खर्च नहीं करते और वे दान भी करेंगे तो बड़े भाव से करेंगे और उनका दिया हुआ थोड़ा भी द्रव्य पाप के फल को नष्ट करता है। तो नीति से धन कमाना, नीति से रहना, किसी के चित्त को सताने का भाव न रखना, मृषानन्द न करना, ये सब पवित्रता की बातें हैं और पवित्र परिणाम से ही जीव का उद्धार सम्भव है। विषयकषायों में लीन होने से आत्मा को कोई नफा नहीं है। देखिये अपने आपके स्वरूप की बराबर भावना कीजिए। जो स्व है उसी को ही स्वीकार करे, जो पर है उसे स्वीकार न करे। तत्त्वज्ञानी पुरुष के कलह नहीं रहती। विषयों की ओर से यों उपेक्षा रहती है कि धन उदयानुसार प्राप्त होता है फिर क्यों उसमें अनेक कल्पनाएँ बनें और क्यों अनेक प्रयास रचना? अपने आपके स्वरूप की भावना करके अपने ही स्वरूप को

स्वीकारना चाहिए। यह में केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है, और रागद्वेष मोहममता के परिणाम तक भी मेरे नहीं है, ये हुआ करते हैं और मिट जाते हैं। जो मेरी चीज हो वह मिटेगी कैसे? जो मिट जाती है, जो खराब हो जाती है वह मेरी चीज नहीं है। परिजन से, धन वैभव से, अपनी नामवरी से इन सबसे मोह हटे, अपने में केवल ज्ञानस्वरूप का अनुभव जगे, यह ज्ञान यह अनुभव बेड़ा पार कर देगा। अनेक उपाय बनावें कि अपने परिणामों में पवित्रता रहे, अपवित्र हृदय से जो चेष्टा बनती है वह खुद को भी दु:ख देती है और अन्य पुरुषों को भी दु:ख देती है। तो ऐसा चित्त बने कि आध्यात्मिक चोरी तक भी न रहे, लौकिक चोरी की बात तो दूर जाने दो, इतना सावधान रहें कि यह मैं हूँ, ज्ञानरूप हूँ, देह भी मैं नहीं, यह घर, यह वैभव, यह कुटुम्ब मेरा नहीं। जब शरीर तक भी मेरा नहीं तो और की तो बात क्या कहें। यों देह से भी निराला अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करते जायें यही शान्ति का उपाय है और कल्याण का सही मार्ग है। मित्रता हो किसी से तो इस ही प्रोग्राम में लगने के लिए कि धर्म में बराबर अग्रसर बने रहें, अन्य कुछ भी अंगीकार करने के लिए मित्रता न होना चाहिए। मित्र तो सच्चा वही है जो विपत्तियों में मदद दे और कल्याणमार्ग में लगाये। और जो विपत्तियों में लगाये, संसार के जन्ममरण में फँसाये वह मित्र नहीं है, इनसे कोई बचा सके ऐसा कोई निमित्त बने वह है वास्तव में मित्र। जो विषयसाधनों में लगावे, लोभ लालच परिग्रह में जो लगाये वह वास्तविक मित्र नहीं है। वह तो अपने ही समान संसार में रुलाने के साधन बना रहा है। अपने आप दुगर्ति में गिरेगा और दूसरों को भी दुर्गति में ढकेल रहा है। मित्र वह है जो ऐसा उपदेश करे, ऐसी दृष्टि बना दे कि यह अनुभव होने लगे कि मैं तो आनन्दस्वरूप ही हूँ। मेरे में तो कहीं संकट ही नहीं है, फिर विकल्प क्या करना? यों अपने आपको केवल ज्ञानस्वरूप मात्र अनुभव कराने का जो निमित्त बने, उपदेश करे वह है सच्चा मित्र। और जो विषयों में फँसाने, संसार में रुलाने का उपदेश करे वह मित्र शत्रुरूप है। ऐसा जानकर एक प्रोग्राम अपने चित्त में बनायें कि कैसी भी स्थिति आये उन सब परिस्थितियों का मुकाबला तो कर लेंगे, पर अपने परिणामों में कलुषता न उत्पन्न हो, ऐसा जो अपने आत्मध्यान के लिए दृढ़संकल्प करता है वह संसार से पार हो जाता है। यहाँ के दु:ख छोड़ें, और सुख में मौज मानना छूटे, अपने स्वरूप को निहारें, यही शान्ति का एक मात्र उपाय है।

श्लोक-1244

बह्वारम्भपरिग्रहेषु नियतं रक्षार्थमम्युद्यते,
यत्संकल्पपरम्परां वितनुते प्राणीह रौद्राशय:।
यच्चालम्ब्य महत्वमुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते,
तत्तुर्यं प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवांशसिनाम्।।1244।।

अब परिग्रहानन्द नाम का चौथा रौद्रध्यान बतलाते हैं। यह प्राणी क्रूर चित्त होकर बहुत प्रकार के आरम्भ परिग्रहों में रक्षार्थ उद्यम करते हैं और उसमें ही संकल्प की परम्परा का विस्तार बना है ऐसा परिग्रह के प्रति चिन्तन बनाया सो परिग्रहानन्द रौद्रध्यान है। इसका पूर्ण विशुद्ध नाम है विषयसंरक्षणानन्द। 5 इन्द्रिय और मन इन 6 का जो विषय है उस विषय के संरक्षण करने में आनन्द मानना विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान है। जैसे कल्पना करो— कोई घर में पति-पत्नी बड़े आनन्द से रहते हैं। बहुत वैभव है, खूब मौज से रहते हैं। न किसी का बुरा तकें, न किसी को सतायें, किसी से कुछ भी काम नहीं है अपने घर में मौज से रहते हैं, सभी प्रकार का आराम है तो यह बतलावो कि वहाँ भी पाप का बंध हो रहा हे या नहीं? चूँकि विषयों के संरक्षण में आनन्द मान रहे हैं और विषयों में मौज समझते हैं तो उनके पाप का बंध बराबर चल रहा है। वे परस्पर में प्रेम से, मोह से रहते हैं तो मोह का, अज्ञान का, मिथ्यात्व का महापाप बराबर चल रहा है। यदि कोई यह सोचे कि मैं किसी को सताता नहीं, किसी की हिंसा भी नहीं करता, झूठ भी नहीं बोलता, चोरी भी नहीं करता, केवल एक अपने परिग्रह में आनन्द मानना, विषयों के संरक्षण में खुश होना, अपने वैभव को जोड़ जोड़कर निरख निरखकर खुश हो रहे, ये सब विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान हैं। उनके संरक्षण में मौज मानना रौद्रध्यान है। और मन का विषय है इज्जत, नामवरी, कीर्ति, प्रतिष्ठा इनके भी संचय में जो संकल्प करना है, उद्यम करना हे वह रौद्रध्यान है। रौद्रचित्त होकर ही महत्ता का अवलम्बन करके कोई अपने को महान उन्नत माने कि मैं राजा हूँ ऐसे परिणाम को ऋषि संतों ने चतुर्थ रौद्रध्यान कहा है। आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों आत्मा के सम्मुख उपयोग लगाने के विरोधी हैं अतएव ये सब पाप हैं, शान्ति का मार्ग तो आत्मा अपने स्वरूप को निरखे उस ही में मग्न रहने का यत्न रखे शान्ति वहाँ मिलती है। यह तो एक वैज्ञानिक प्रयोग है। जिसका उत्सुकता हो वह परीक्षा करके निरख ले। जब परपदार्थों का कहीं भी विकल्प न रखेगा और बड़े विश्राम से अपने आपमें ही नम्र बन जायगा तो उसको विशिष्ट आनन्द प्राप्त होगा। और जब जानेगा कि शान्ति का उपाय तो यही है, यही है जो मुझमें है शान्ति का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है उस रूप परिणति, उस काल में रहे, थोड़ा अनुरागवश निर्वाध पुण्य का बंध होता है। धर्म मार्ग में कोई चले तो कर्मों की निर्जरा भी होती जाती और विशिष्ट पुण्य का बंध भी होता जाता है। धर्म की महिमा कोई मुख से कह नहीं सकता। आज हम आप मनुष्यभव में हैं, श्रावककुल में जैन शासन की परम्परा में हैं तो समझ लीजिए कि यह किसी विशिष्ट पुण्य का फल है। जो ऐसे अहिंसा के शासन में हैं, जहाँ अपने आपके स्वरूप की बहुत-बहुत सुध होती रहती है यह विशिष्ट धर्म का फल है। तो यह पुण्य इतना विशिष्ट मिलता है अथवा और भी विशेष धर्म समाज सहित मनुष्य का होना मिलता है धर्म के प्रसाद से। धर्म का फल तत्काल प्राप्त होता है और पाप का भी फल तत्काल प्राप्त होता है। धर्म का फल है शान्ति, पाप का फल है अशान्ति। धर्म करने से लोग ऐसा सोचते हैं कि परभव में इसका फल मिलेगा। इस पुण्य में

तो ऐसा हो सकता है कि पुण्य करने का फल परभव में मिले, किन्तु धर्म का फल तो जिस क्षण धर्म किया जा रहा है उसी क्षण उसका फल मिल रहा है। निर्मलता जगना, शान्त होना, निष्तरंग होना यह धर्म का फल है और ये ही धर्म के फल हैं और ये ही धर्म के स्वरूप हैं। इस धम्र से विमुख करने वाला यह विषयसंरक्षणानन्द नामक रौद्रध्यान है।

श्लोक-1245

आरोप्य चापं निशितै: शरौधैर्निकृत्य वैरिव्रजमुद्धताशम्।
दग्धवा पुरग्रामवराकराणि प्राप्स्येऽहमैश्वर्यमनन्यसाध्यम्।।1245।।

ऐसा विचार करना कि मैं तीक्ष्ण बाणों के समूह से उद्धत बैरियों को नष्ट करके उनके नगर ग्राम खान वैभव आदिक को दग्ध करके दूसरों के द्वारा साधन में न आये ऐसा ऐश्वर्य व निष्कंटक सज्य को करूँगा। यह रौद्रध्यान ही तो है। मैं इसका अनर्थ करके इसको मारकर इसे ठगकर मैं निष्कंटक राज्य करूँगा, वैभव भोगूँगा। राज्य के सुख भोगना यह भी रौद्रध्यान है। जैसे यह विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान है वैसे ही कोई राजा-महाराजा ऐसा चिन्तन करे कि मैं अमुक राजा को मिटाकर फिर निष्कंटक राज्य भोगूँगा तो इससे वह आत्मा के स्वरूप से विमुख हुआ और परवस्तुवों में आसक्त होता है। ऐसा जीवन गुजारने से जीव को लाभ कुछ नहीं मिलता, समय गुजर जाता है और परिणाम खोटे करने से जो स्थितिबंध के बंधन हो जाते हैं उनका फल भोगना पड़ता है। तो ऐसा चिन्तन करते हुए भी विषयसंरक्षणानन्द नामक रौद्रध्यान है। किसी से कोई विरोध हो जाय तो ऐसा संकल्प करना कि मैं इसको बरबाद कर दूँगा, फिर आनन्द से ऐश्वर्य भोगूँगा, ये सब विषयसंरक्षणानन्द नाम के रौद्रध्यान है। अपने आपमें यह विरोध करना चाहिए कि हम आर्तरौद्रध्यान में कितना समय बिताते हैं और आत्मरूवरूप की दृष्टि में प्रभुभक्ति में अथवा व्रत आदिक पालन में कितना समय बिताते हैं? आजकल के युग में व्रत नियम तो उपहास की चीज रह गयी। कोई व्रत करे, संयम करे, नियम से रहे तो लोग उसकी हँसी उड़ाते हैं। कहते हैं कि यह तो पुराने दिमाग का आदमी है। समय है ऐसा। एक साधारणसी बात जैसे रात्रि में अन्न न खाना। कुछ भी इसमें तकलीफ नहीं है। दिनभर पड़ा है। कितना ही खायें आखिर पेट को भी तो छुट्टी मिलना चाहिए तब तो स्वास्थ्य रहेगा तो कोई कठिन चीज नहीं है, मगर कोई-कोई रात्रि- भोजन का त्याग करके रहे और बरात में जो गोष्ठी में रहे, न खाये तो उसकी हँसी उड़ाई जाती है। कोई समय एक ऐसा था कि लोग उसकी प्रशंसा करते थे जो रात्रिभोजन का त्यागी होता था। अब तो ऐसे व्यक्ति की लोग हँसी उड़ाते हैं। तो इसमें उपहास करने वालों का दोष क्या?

स्वयं ही सब लोगों में शिथिलता आ गयी जिससे वे हँसी के पात्र बन बैठे। आजकल तो लोग धन-दौलत के संचय के पीछे होड़ लगा रहे हैं। चाहे ब्लेक करना पडा, चाहे बेईमानी से धन आवे पर धन मिलना चाहिए ऐसी भावनाएँ बनी रहा करती हैं। अरे यह धन वैभव तो जितना उदय में है उतना आयगा। अन्याय करने से, बेईमानी करने से धन आता हो ऐसी बात नहीं है, वह तो सब उदय हीन है। इस ओर लोगों की दृष्टि नहीं है और अपने परिणाम बिगाड़कर धनसंचय के होड़ में आज दुनिया लग रही है, यह सब विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान है।

श्लोक-1246

आच्छिद्य गृह्लान्ति धरां मदीयां कन्यादिरत्नानि च दिव्यनारीम्।
ये शत्रव: सम्प्रति लुब्धचित्तास्तेषां करिष्ये कुलकक्षदाहम्।।1246।।

जो बैरी मेरे पृथ्वीरत्न को अथवा कन्यारत्न को सुन्दर स्त्री को लुब्ध चित्त होकर छीनकर ले जायगा उसके कुलरूपी वन को दग्ध करूँगा। जो मुझ पर दबाव देकर मेरा धन लूटता है अथवा लूटवाता है अथवा कन्या को छीनता है उसके कुल को मैं समूल नष्ट करूँगा। पहिले समय में स्वयंवर हुआ करते थे। तो कोई स्वयंवर की अवहेलना करके यों ही किन्हीं उपायों से कन्यारत्न को छीनकर ले जाते थे और उस समय उनका भयंकर युद्ध होता था। पहिले लोग कन्या की सगाई करते थे। लोग कहते थे कि अपनी पुत्री की सगाई मेरे पुत्र से कर दो, सगाई मायने अपनी बना लेना, बाद में विवाह होता था। तो पहिले समय में कन्या आदिक को लोग रत्न मानते थे। तो कोई मेरे वैभव में बाधा डाले, राज्य में बाधा दे, कन्या आदिक रत्नों को छीन ले जाय, ऐसे पुरुष को मैं निर्मूल नष्ट करूँगा— इस प्रकार का संकल्प करना यह विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान है। कुछ लोग सोचते होंगे कि इसमें क्या रौद्रध्यान है? यह तो कर्तव्य है कोई मेरे धन को छीन ले जाय और मैं उसके कुल के विनाश का यत्न करूँ यह तो अपना कर्तव्य है इसमें क्यों रौद्रध्यान कहा? लेकिन यह देख लीजिए कि जहाँ धर्मध्यान नहीं, आत्मदृष्टि नहीं, शान्ति का रास्ता नहीं, पर की ओर ही दृष्टि है, विरोध है, पराधीन जिसकी वृत्ति है उस समय उसके भी रौद्रध्यान ही तो है। अपने आपके प्रभु की ओर से क्रूर चित्त हो गया अतएव वह रौद्रध्यान है। इसके बचने के लिए फिर क्या करे? गृहस्थी में रहकर तो बचा नहीं जाता। यह रौद्रध्यान तो पंचम गुणस्थान तक पाया जाता है, मगर इस रौद्रध्यान की ओर से खेद करना चाहिए, चित्त तो धर्मध्यान की ओर होना चाहिए। गृहस्थी में तो गृहस्थों जैसा ही काम निभेगा। आजीविका करना, धन कमाना, कुटुम्ब को पोषण करना, अपने को सावधान बनाना, कहीं ठग न जायें, बहुत

से काम करने होते हैं पर आशय प्रोग्राम, लक्ष्य होना चाहिए धर्मध्यान का। अन्य सब कामों को तो यों समझना चाहिए जैसे कि एक कहावत में कहते हैं गले पड़े बजाय सरे। कुछ मित्र लोग आपस में मजाक कर रहे थे, एक मित्र के गले में किसी ने एक ढोल डाल दिया तो उसकी हँसी हो गयी। अपनी हँसी मिटाने के लिए उसने क्या किया झट दो लकड़ियां उठा ली और बजाना शुरू कर दिया। लो उसकी हँसी मिट गयी। यों ही समझिये अपने को जो गृहस्थी मिली है, परिग्रह के बीच रहना पड़ता है तो इसे एक कला सहित संरक्षण करने से ही निपट पायेंगे लेकिन ध्यान यह रहना चाहिए कि यह जो कुछ किया जा रहा है यह अपने आपके प्रभु पर मजाक किया जा रहा है। इसमें प्रभु की प्रभुताई नष्ट हो रही है। यथार्थ प्रकाश चित्त में रहना चाहिए। तो विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान होता है पंचम गुणस्थान तक, लेकिन आशय में क्रूरता ज्ञानी जीव के नहीं रहा करती है।

श्लोक-1247

सकलभुवनपूज्यं वीरवर्गोपसेव्यं, स्वजनधनसमृद्धं रत्नरामाभिरामम्।
अमितविभवसारं विश्वभोगाधिपत्यं, प्रबलरिपुकुलान्तं हन्त कृत्वा मयाप्तम्।।1247।।

देखो जो समस्त भुवनों के जीवों से पूज्यनीय है, बड़े-बड़े योद्धावों के द्वारा जो सेवनीय हैं, कुटुम्ब से श्यान्य आदिक से जो परिपूर्ण है वह रत्न आदिक से सुन्दर है, अमर्यादिक विभव में सारभूत है ऐसे समस्त वैभव को प्राप्त करके उसमें अहंकार करे तो यह विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान में शामिल है। कुछ सुनकर ज्यादा बुरा न मालूम होता होगा, क्योंकि विषयसंरक्षणानन्द गृहस्थ लोग रात दिन करते ही हैं और अन्य बातें भी होती रहती हैं लेकिन यह सब आशय का फर्क है। जिन्दगी का लक्ष्य क्या है? इसका जिसके भली प्रकार निर्णय नहीं हुआ वह तो कुपथ पर गिर जाता है और जिसको अपने लक्ष्य का विशिष्ट निर्णय हुआ है, परिस्थितिवश रहना पड़ता है घर में फिर भी अपने परिणाम सावधान रखता है। तो ऐसे मौके आते हैं कि परिग्रह जोड़ने के लिए, धन कमाने के लिए ऐसी बहुत सी क्रियाएँ करनी पड़ती हैं लेकिन परपदार्थों की ओर दृष्टि लगाकर अपने प्रभु को जो भूल जाते हैं इस बात पर कुछ खेद होना चाहिए।

श्लोक-1248

भित्वा भुवं जन्तुकुलानि हत्वा प्रविश्य दुर्गाण्युदधिं विलङ्घय।

कृत्वा पदं मूर्ध्नि मदोद्धतानां मयाधिपत्यं कृतमत्युदारम्।।1248।।

देखो पृथ्वी भी भेद डाला, जीवों के समूह भी मार डाला और गणों के प्रवेश किए किले जीता, बड़े शत्रु पर पाँव देकर मैंने बहुत ऊँचे स्वामीपन का राज्य पाया—यों एक अपने सुख पर अभिमान जगना। जैसे धनिक लोग धनवैभव के, ठाठबाट के समागम में अहंकार से भरे हुए रहते हैं, अपने को सबसे ऊँचा समझते हैं ऐसे ही शासन के प्रसंग में शत्रुवों का विनाश करके, बड़ा पराक्रम करके, समुद्र को भी लांघ करके, पृथ्वी को भी भेद करके, समूल शत्रु का नाश करके जो राज्य पाया है उस पर अहंकार बनाना, लो मैंने इस-इस प्रकार से इतना बड़ा साम्राज्य पाया है ऐसा चिन्तन करना भी विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान है।

श्लोक-1249

जलानलव्यालविषप्रयोगैर्विश्वासभेदप्रणधिप्रपञ्चै:।
उत्साद्य नि:शेषमरातिचक्रं स्फुरत्ययं में प्रबलप्रताप:।।1249।।

देखो जल, अग्नि, सर्प, विष आदिक के प्रयोग से विश्वास दिलाना अथवा ऐसे प्रयत्नों से एक दूसरे की मित्रता में भंग करना आदिक प्रपंचों में शत्रु के समस्त समूह को नाश करके कैसा मेरा प्रबल प्रताप है कि मैं लोक में प्रतापी जँच रहा हूँ, यों अपनी बुद्धि का अभिमान करना— यह मन के विषयों में शामिल है और देखिये विषयों का संरक्षण करके मौज मानना यह विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान है।

श्लोक-1250

इत्यादिसंरक्षणसन्निबन्धं सचिन्तनं यत्क्रियते मनुष्यै:।
संरक्षणानन्दभवं तदेतद्रौद्रं प्रणीतं जगदेकनाथै:।।1250।।

विषयों के संरक्षण बनाने वाले साधनों का जो चिन्तन करे सो सब विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान बताया है। ये मनुष्यों के प्राण निरन्तर दु:खते हैं कि यह विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान बराबर चलता रहता है। रोजगार चल रहा, अन्य कार्य कर रहा, घर की सफाई कर रहा, भींट बनवाने का काम चल रहा आदिक

सभी काम विषयों के साधन जुटाना, परिग्रह जोड़ना— इन सब कामों में विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान है। एक खलिहान में किसान ने देखा कि यह चूहा कहीं से रुपये लाता है और उसको इकट्ठा करता है और रुपयों के ढेर के चारों तरफ घूमकर नाच करता और धीरे-धीरे सारे रुपयों को वह अपने बिल में ले जाता। दो एक बार देखा बडे गौर से और यह भी समझा कि यह दो ही रुपये लाता है और बिल में रख देता है। उस चूहे को उन रुपयों से प्रेम हो गया। सो वह बाहर से रुपये लाता और उन्हें देख देखकर खुश होता था। तो यह विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान मनुष्यों के ही नहीं बल्कि पशु-पक्षियों के बराबर चलता रहता है। पेड़, पृथ्वी आदिक स्थावर जीवों के भी चलता रहता है। तो जहाँ परिग्रह और विषयों के साधन जोड़ने में आनन्द माना जाय वह विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान है। इससे हटकर विशुद्ध ज्ञानमात्र अपने स्वरूप की ओर लगने का यत्न करना चाहिए।

श्लोक-1251

कृष्णलेश्याबलोपेतं श्वभ्रपातफलाङ्कितम्।
रौद्रमेतद्धि जीवानां स्यात्यञ्चगुणभूमिकम्।।1251।।

रौद्रध्यान का चिन्ह क्या है? यह रौद्रध्यान कृष्णलेश्या के बल से संयुक्त है। यह सामान्यतया कथन है। रौद्रध्यान कृष्णलेश्या में भी हो सकता; नील, कपोत, पीत, पद्म इनमें भी हो सकता। जैसे पंचम गुणस्थान में रौद्रध्यान होता है और वहाँ हुई शुभ लेश्या तो इससे शुभ लेश्या के होते हुए एक साधारण रौद्रध्यान होता है। चूँकि गृहस्थी है, परिवार का सम्बंध है, कुछ बातचीत होती ही रहती है। इस प्रसंग में कभी खेद होता है, कभी हर्ष। तो वहाँ भी रौद्रध्यान चलता है किन्तु वह साधारण। जो मिथ्यात्व करके सहित रौद्रध्यान है वह कृष्णलेश्या के फल से ही संयुक्त है और रौद्रध्यान का फल है नरक में जाना। यह भी एक प्रधानता से वर्णन है। यों तो पंचम गुणस्थान में रौद्रध्यान भी है पर साथ ही धर्मध्यान भी है। तो मिथ्यात्व सहित जो रौद्रध्यान है उसका फल है नरक में गमन। और यह पंचम गुणस्थान पर्यन्त होता है। विशेषता पहिले गुणस्थान में है। पंचम गुणस्थान में धर्मध्यान की विशेषता है। पर आरम्भ परिग्रह संग में ऐसा लगा हुआ है जिसके कारण कुछ-कुछ रौद्रध्यान बन जाता है गृहस्थी में।

श्लोक-1252

क्रूरता दण्डपारुष्यं वञ्चकत्वं कठोरता।
निस्त्रिंशत्वं च लिङ्गानि रौद्रस्योक्तानि सूरिभि:।।1252।।

आचार्यों ने रौद्रध्यान के ये चिन्ह कहे हैं— क्रूरता होना, चिन्तातुर होना। क्रूरता का अर्थ है दूसरों पर कुछ भी बीते, दूसरों का कुछ भी नुकसान हो, पर अपने विषय स्वार्थसाधना की प्राप्ति रहे, ऐसा आशय रखकर जो बर्ताव बनता है वह क्रूरता का बर्ताव है। क्रूरता कहो, दुष्टता कहो, अपनी गरज निभाया और दूसरों का चाहे कुछ भी हो ऐसे परिणाम को कहते हैं क्रूरता। किसी पर कुछ अपराध बन जाय तो उसको कठोर दण्ड देना यह रौद्रध्यान का चिन्ह है। क्षमा की बात मन में न आ सके, उसे कठोर दण्ड दे, यह रौद्रध्यान का चिन्ह है। वैसे नीति में यह कहा है कि दण्ड दिलावो तो गरीब के मुख से कहलावो। और पहिले समय में जो पंगत होती थी दाल रोटी का वह बड़ा महत्त्व रखती थी। कोई जाति से बहिष्कृत पुरुष लड्डू पूड़ी की पंगत में खा ले बैठकर तो लोग उसे उस जाति में मिला हुआ नहीं मानते थे, पर कच्ची रोटी की पंगत में यदि बैठ जाय तो उसका दोष माफ कर दिया जाता था, अथवा पंगत में जब बैठते थे तो उनको घी खूब परोसा जाता था। तब की कहावत है कि घी परोसवावो तो बडे से, दण्ड दिलावो तो छोटे से। कोई जाति का मामला है, अपराध किया, इसको क्या दण्ड देना चाहिए। यदि किसी गरीब से कहलाये तो थोड़ा दण्ड निपट जाय। अब देख लीजिए कि ज्यों-ज्यों सामग्री अच्छी मिलती है, ठाठ-बाट मिलते हैं, धन धान्य मिलते हैं और ऐश्वर्य बढ़ता है ऐसा पुरुष रौद्रध्यान अधिक कर सकता है। तो यह रौद्रध्यान का चिन्ह है कि कठोर दण्ड दे। तीसरा है ठगना, छल करना, विश्वासघात करना, दूसरे का कपट से धन हर लेना यह सब है ठगाई। तो ठगना, बंचकपना यह रौद्रध्यान का चिन्ह है। चौथा बताया है कठोरता। चित्त नम्र न बन सके। ऐसा चिन्ह रौद्रध्यान में होता है। एक चिन्ह बताया है अन्तिम निर्दयता। जो विषयों का लोभी होता है, परिग्रह के संचय की तीव्र वासना रखता है उसमें दया का वास नहीं हो पाता। कैसे दया करे? यहाँ तो लोभ सता रहा है। लोभ में दया कहाँ? तो रौद्रध्यान का चिन्ह बताया निर्दयता। ये सब चिन्ह रौद्रध्यान के आचार्य ने कहे हैं।

श्लोक-1253

विस्फुलिङ्गनिभे नेत्रे भ्रूवक्रा भीषणाकृति:।
कम्प: स्वेदादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम्।।1253।।

इस प्राणी के ये बाहरी चिन्ह हैं रौद्रध्यान के। एक तो नेत्र ऐसे होना कि जैसे आग से चिनगारियाँ निगल रही हों, अर्थात् क्रोध भरे नेत्र होना। रौद्रध्यान में चूँकि अपने विषयों के साधनों के, संरक्षण की प्रमुखता है तो उसमें जो बाधा दे, जो हमारी स्वार्थसिद्धि में बाधक बने उसके प्रति इसे ऐसा क्रोध आता है रौद्रध्यान वाले को कि मानों आँखों में स्पुलंगा बन रहे हों। प्रथम चिन्ह इस छंद में बताया है कि स्पुलंगों से सहित नेत्र होना। दूसरा चिन्ह है भौंहें टेढ़ी हो जाना। जब किसी दूसरे पर कृपा नहीं होती और अपने आपके विषयसाधनों में बाधा पहुँच रही है तो भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं। यह रौद्रध्यान का चिन्ह है। फिर बताया है कि मुख का आकार भयानक हो जाता। लौकिक सुन्दरता भी शान्त भाव से प्रकट होती है और आध्यात्मिक सुन्दरता तो निष्कषाय भाव में है ही। जैसे कोई पुरुष या महिला बहुत लोक में माने जाने वाले रूपसहित हो, गौरांग हो, सुन्दर जँचे, ऐसा रूप हो, लेकिन आदत क्रोध की है, दूसरे को दु:ख देने की है, दूसरों पर छल करने की है तो उस पर सुन्दरता नहीं आ सकती। कोई पुरुष अथवा महिला साधारण रूपवान हो, सांवला हो, किसी भी प्रकार का हो और उसमें शान्ति है, कषाय नहीं है, परोपकार की बुद्धि है, सब पर दयाभाव रखता है, गरीबों पर उपकार करता है तो उस पर सुन्दरता झलकेगी। सुन्दरता उसका नाम है जिसको सभी लोग चाहने लगें। सभी लोग काम को, प्रेम को, विकार को चाहा करते हैं। उस रौद्रध्यान में एक यह चिन्ह बताया कि उसका भयानक आकार बन जाय। शरीर कांपने लगे, हाथ-पैर कांपने लगें। जब किसी पर विशेष अन्याय किया जाय तो अन्याय होता है अपने विषयों के साधनों के लोभ होने पर। तो उस समय इसके रौद्रध्यान होता है जिससे शरीर भी कंप जाता है। और स्वेद पसीना आना ये बाहरी चिन्ह रौद्रध्यान के होते हैं। रौद्रध्यान यह क्रूर ध्यान है जिससे मनुष्य को इस भव में भी भीतर में क्लेश रहता है, पाप का बंध होता है, पश्चात् भी इसे बहुत क्लेश भोगना पड़ता है। तो यही है रौद्रध्यान।

श्लोक-1254

क्षायोपशमिको भाव: कालश्चान्तर्मुहूर्तक:।
दुष्टाशयवशादेप्रशस्तावलम्बनम्।।1254।।

यह रौद्रध्यान क्षायोपशमिक भावरूप है, अर्थात् कुछ ज्ञानावरण का क्षयोपशम हो, कुछ अपने वीर्यान्तराय का भी क्षयोपशम हो तब यह भाव प्रकट होता है। यह अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। सभी ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक रह पाते हैं और खोटा आशय होने के कारण यह खोटी वस्तु का आलम्बन किया करता है

अर्थात् रौद्रध्यान खोटे वस्तु पर ही होता है। क्रोध पर रौद्रध्यान हो, मान, माया, लोभ कषाय होने से रौद्रध्यान हो तो रौद्रध्यान खोटे विषयों को ले करके हुआ करता है। आर्त और रौद्र ये पौद्गलिक वस्तुवों का विषय करके होते हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये आत्मा का आश्रय करके प्रकट होते हैं। अपने आपका जितना भी सहारा ले सकें उतना तो सारभूत काम है। अपने सहज ज्ञानस्वभाव पर जितनी दृष्टि स्थिर रह सके उतना तो सारभूत पुरुषार्थ है, और इससे अतिरिक्त बाह्यपदार्थों में रागद्वेष की बुद्धि जगे वह आत्मा के कल्याण की बात है और खोटी ही वस्तु का आश्रय करके हुआ करता है।

श्लोक-1255

दहत्येव क्षणार्द्धेन देहिनामिदमुत्थितम्।
असद्धयानं त्रिलोकश्रीप्रसवं धर्मपादपम्।।1255।।

जब ये प्रशान्तभाव जीव के होते हैं तब तीन लोक की लक्ष्मी के उत्पन्न करने वाले धर्मरूपी वृक्ष को ये आधे क्षण में ही जला देता है अर्थात् रौद्रध्यान समस्त वैभवों का विनाश कर देता है। वैसे भी देख लो। जो लालच के वशीभूत है उस पर ऐसी घटनाएँ घटती हैं कि सारी जिन्दगीभर किए हुए लालच की कसर सब एक दफे में निकल आती है। लालच एक बुरी बला कही गई है। उसी में यह रौद्रध्यान पनपता है। वहाँ धर्मध्यान नहीं ठहरता जहाँ कोई हिंसा करने कराने में आनन्द माने, झूठ बोलने बुलाने में आनन्द माने, चोरी करने कराने में मौज समझे, इसी प्रकार विषयसंरक्षणानन्द में जो मौज माने वह पुरुष अथवा वह ध्यान धर्मरूपी वृक्ष को भस्म कर डालता, वहाँ धर्म नहीं ठहर सकता।

श्लोक-1256

इत्यार्तरौद्रे गृहिणामजस्रं ध्याने सुनिन्द्ये भवत: स्वतोपि।
परिग्रहारम्भकषायदोषै: कलङ्कितेऽन्त:करणे विशङ्कम्।।1256।।

इसी प्रकार यह आर्तध्यान और रौद्रध्यान जो कहे गए हैं वे गृहस्थ के परिग्रह आरम्भ और कषाय आदिक दोषों से मूल अन्ताकरण में उत्पन्न होते हैं। जहाँ किसी परपदार्थ में रुचि है वहाँ उसके उपयोग में आर्तध्यान होगा, अनिष्ट है तो उसके संयोग में आर्तध्यान होगा और विषयों के संरक्षण में तो आनन्द मानता

है उसके उस कलंकित हृदय में यह रौद्रध्यान पनपता है, इसमें रंच भी शंका नहीं है। तो जिस चिन्तवन में लोग मौज मानते वे समस्त चिन्तवन हेय हैं, संसार के कारणभूत हैं।

श्लोक-1257

क्वचित्त्क्कक्वचिदमी भावा: प्रवर्तन्ते मुनेरपि।
प्राक्कर्मगौरवाच्चित्रं प्राय: संसारकारणम्।।1257।।

ये आर्तध्यान और रौद्रध्यान कभी-कभी किसी मुनि के भी हो जाते हैं। जब हो जाय रौद्रध्यान तो मुनि का गुणस्थान नहीं रहता, पर मुनि तो हे बाह्य भेष में और कुछ साधना भी ठीक चल रही है इतने पर भी कोई पूर्वकृत कर्म का उदय होता है कि जहाँ अपने को नहीं सम्हाल सकते, दूसरे का अनिष्ट कर देते। जैसे द्वीपायन मुनि इतने ऊँचे तपस्वी थे, सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानी थे कि उनके तैजस ऋद्धि प्रकट हो गयी थी। तैजस ऋद्धि के मायने हैं कि जिसके प्रताप से मुनि यदि किसी का भला विचार कर ले तो दाहिने कंधे से ऐसा तेज प्रकट होता कि उसका भला हो जाय, दुर्भिक्ष न पड़े, रोग व्याधि शान्त हो जाय और जब उस ही मुनि को किसी पर तीव्र क्रोध जग जाय, इसका अनिष्ट चिन्तन करने लगे तो कंधे से ऐसा तेज प्रकट होता था कि वहाँ के क्षेत्र को भी भस्म कर दे, और लोग भी भस्म हो जायें और खुद भी भस्म हो जाय और नरक में जाय। एक बल है उस बल का यदि उत्तम प्रयोग करे तो उसमें लाभ है और उसका अगर खोटा प्रयोग करे तो उससे बरबादी होती है तो ऐसी-ऐसी भी ऊँची ऋद्धि प्रकट हो जाये, ऐसे मुनीश्वरों को भी पूर्वकृत पाप के उदय से ऐसा आर्त और रौद्रध्यान हो जाया करता है। सो यह पूर्वकर्म के उदय की विचित्रता है। ये दोनों ध्यान आर्त और रौद्र ये संसार के ही कारण हैं, जन्म–मरण बढ़ाने वाले हैं।

श्लोक-1258

स्वयमेव प्रजायन्ते विना यत्नेन देहिनाम्।
अनादिदृढसंस्कारा दद्ुर्ध्यानानि प्रतिक्षणम्।।1258।।

ये जो खोटे ध्यान हैं सो जीव को अनादिकाल से संस्कार से बिना ही यत्न के स्वयमेव होते हैं। इष्ट का वियोग हो जाय तो उसके फल में स्वयं ही बड़ा दु:ख मानते हैं, अनिष्ट के संयोग में दु:ख मानते

हैं। कोई बच्चे को सिखाता है चलना फिरना या विद्या पढ़ना आदिक क्या? अरे ये सब तो उसके अनादि के संस्कार हैं, होते हैं। विषयों के अनुभवन में मौज मानना उसे कोई सिखाता है क्या? तो यह आर्त और रौद्रध्यान जीवों को बिना सिखाये, बिना यत्न के अनादि काल के संस्कारों से ये सब चलते जाते हैं। पर धर्मध्यान शुक्लध्यान उत्कृष्ट विचार, सम्यक्त्व का लाभ ध्यान की प्राप्ति इन सबमें उद्यम करना होता है। सिखाते हैं, गुरुजन बताते हैं तब इसकी सिद्धि होती है। यह आर्त और रौद्रध्यान बिना यत्न के ही जीवों के साथ अनादिकाल से अपनी परम्परा बनाते चले जा रहे हैं, पर जो अनादि से चला आया है वह अच्छा ही हो यह नियम तो नहीं। जैसे किसी काम में लोग कहने लगते हैं कि यह तो वर्षों से बात चल रही है। पर बात यदि ठीक है तो ठीक है अन्यथा कितनी ही पुरानी परम्परा से रूढ़ि चली जाय उसमें भलाई नहीं है तो ठीक नहीं है। तो यों ही अनादिकाल से मिथ्यात्व, मोह, अज्ञान, दुर्ध्यान ये सब चले आ रहे हैं पर पुरानी परम्परा से चले आये इस कारण वह ठीक हो यह नियम नहीं है। तो ये अनादि वासना के संस्कार ये जीवों को बिना यत्न के ही प्राप्त होते रहते हैं। यह कठिन है, पर छोड़ना इसे जरूर होगा। तो उपयोग अपना निर्मल बनायें, अपने गुणों का चिन्तन करें, ज्ञानप्रकाश के निकट रहें वहाँ तो इस जीव को धर्मलाभ है, शान्तिलाभ है और इसके अतिरिक्त किन्हीं बाह्यपदार्थों के निकट बसें, राग करके अथवा द्वेष करके तो यह बात कब तक निभेगी? ये दुर्ध्यान त्याग ने योग्य हैं।

श्लोक-1259

इति विगतकलंकैर्वर्णितं चित्ररूपं, दुरितविपिनबीजं निन्द्यदुर्ध्यानयुग्मम्।
कटुकतरफलाढ्यं सम्यगालोच्य धीर, त्यज सपदि यदि त्वं मोक्षमार्गे प्रवृत्तः।।1259।।

आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे धीर वीर पुरुष यदि तू मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करना चाहता है तो निंद्यनीय दुर्ध्यान कलंक हो दूर कर। जो ध्यान नाना चित्र-विचित्ररूप है। कोटि देखिये धर्म की जाति एक है और व्यवहार धर्म में भी धर्मात्मावों की प्रवृत्ति एक दूसरे से मिल जायगी। परिणाम करीब-करीब एक हो सकता है पर आर्त और रौद्रध्यान इतने खोटे और विचित्र हैं कि इनकी जातियाँ, इनका विस्तार नाना- रूपों में होता है। तो ये दोनों दुर्ध्यान नाना चित्र-विचित्र रूप हैं और पापरूप वन के बीज हैं। जैसे बीज से अंकुर उत्पन्न होता है ऐसे ही इन ध्यानों से पाप उत्पन्न होते हैं। ऐसे निंद्य दुर्ध्यानों को जिसका कि अन्त में खोटा फल है उसको हे धीर वीर पुरुष ! तू शीघ्र ही छोड़ दे। जब तक मनुष्य को भीतर में आत्मकल्याण की सच्ची रुचि नहीं जगती है तब तक यह धर्मध्यान का भली प्रकार पात्र नहीं हो सकता है। पहिले चित्त में यह बात

सोचना चाहिए कि संसार में अनेक योनियों में भ्रमण करते-करते आज बडे सुयोग से हम मनुष्य हुए हैं, युक्त समागम प्राप्त कर लिया है, अब इस जिन्दगी को धर्मसाधना में व्यतीत करना चाहिए। धनवैभव या अन्य-अन्य विषयों के संरक्षणभूत साधन ये इस मेरे को क्या हित कर सकते हैं? इनका तो परिणाम ही क्लेशरूप है। इन समागमों की रुचि में कुछ भी लाभ नहीं है। जिन्दगी से जी रहे हैं और इन बाह्य समागमों में कुछ अपना महत्त्व जाना, अतिशय समझा तो हे क्या? एक दिन तो वह आयगा कि जब कि इस भव को छोड़कर आगे जाना पड़ेगा। फिर क्या हालत गुजरेगी? क्या इसी प्रकार संसार में जन्ममरण करना, दु:खी होना ऐसी ही जिन्दगी बिताना अच्छा है? भाई अन्तरङ्ग में शुद्ध हृदय से यह भावना जगना चाहिए कि मुझे अपने आत्मा का उद्धार करना है और इस ही शुद्ध भावना पर ऐसी परिणति बन जायगी कोई कि केवल शुद्ध ज्ञानप्रकाश का ही अनुभव हो रहा होगा। तो इन दुर्ध्यानों को त्यागकर जो अच्छा ध्यान है, जो आत्मा से सम्बंध रखने वाला ध्यान है ऐसे ध्यान में अपने आपका मोड़ लाना चाहिए। संसार, शरीर, भोगों से विरक्ति परिणाम होना चाहिए। मनुष्य सोचते हैं कि अब करीब 10 वर्ष का काम है, जब काम सम्हल जायगा तो खूब धर्मध्यान में लगेंगे। वे सोचे हुए दिन भी धीरे-धीरे गुजर जाते, पर अभी भी तृष्णा का अन्त नहीं आता है, आकांक्षाएँ वैसी ही बनी रहती हैं। यों ही सारा जीवन व्यर्थ में गुजर जाता है। अरे पाया है यह दुर्लभ समागम तो इसका खूब लाभ उठावें। लाभ यही है कि आत्मस्वरूप का अधिकाधिक चिन्तन कर लें, पर चेतन अचेतन पदार्थों से मोह रागद्वेष हटा लें, इन बाहरी विभूतियों से कुछ भी हित न होगा ऐसी दृढ़ता बना लें, ऐसे शुद्ध परिणामों को करना हम आप सब कल्याणार्थियों का कर्तव्य है। उससे ही ऐसी विचित्रता जगेगी कि आत्मा का विशुद्ध ध्यान बन सकेगा जिससे संसार के संकट समस्त एक साथ छूट जायेंगे।

श्लोक-1260

अथ प्रशममालम्ब्य विधाय स्ववशं मन:।
विरज्य कामभोगेषु धर्मध्यानं निरूपय।।1260।।

धर्मध्यान के स्वरूप में आचार्यदेव कह रहे हैं कि शान्तिभाव का आलम्बन करके अपने मन को जब वश करके काम और भोगों से विरक्ति परिणाम करके धर्मध्यान का निरूपण करो। निरूपण करने का अर्थ कहना नहीं है, किन्तु भली प्रकार से एक अपने आपमें लखे। निरूपण नाम है देखने का। जो देखा हुआ कहा जाय इसलिए निरूपण की रूढ़ि कहने में हो गयी, पर निरूपण का अर्थ है भली प्रकार अपने आपमें देखना। उस धर्मध्यान से अपने आपमें देखने की बोलने की तरकीब क्या है? तो सर्वप्रथम तो शान्ति चाहिए।

जब चित्त ही शान्ति में नहीं है तो धर्मध्यान बनेगा क्या? सर्वप्रथम प्रथम भाव हुआ। जब शान्तचित्त होगा तो मन अपने आधीन होगा। फिर मन को अपने आधीन बनाना और इन सबका उपाय अथवा इन सबका फल क्या है। काम और भोग में विरक्ति जगना। देखिये चित्त जिसका भी गड़बड़ होता है, दिमाग भी जिसका स्थिर नहीं रहता, चित्त चलित रहता उसका कारण है काम और भोगों में राग होना। जिसे धर्मधारण करना हो उसे चाहिए कि काम और भोगों में विरक्त हो। काम का अर्थ है स्पर्शनइन्द्रिय और रसना इन्द्रिय का विषय। इनसे विरक्ति हो तो धर्मध्यान बने। जिसका कुटुम्ब में, खाने-पीने, श्रृंगार साज, नामकीर्ति में मन लगता हो ऐसा पुरुष धर्मध्यान करने के लिए आवश्यक है कि आत्महित से प्रयोजन रखने वाले कार्य करे। जैसे जिसे कमाई और धनसंचय करने की धुन रहती है उसको खाना-पीना तक नहीं सुहाता, उसे तो एक उसी की धुन है ऐसे ही यहाँ समझो जिसकी धर्मधारण की धुन है उसको भी खाना-पीना, साजश्रृंगार, संसार के करतब कुछ सुहाते नहीं हैं। उसे तो केवल धर्मध्यान में, केवल अपने आपको ज्ञानस्वरूप निहारने की धुन है। उसे तो अन्य किसी कार्य में प्रसन्नता ही नहीं है।

श्लोक-1261

तदेव प्रक्रमायातं सविकल्पं समासत:।
आरम्भफलपर्यन्तं प्रोच्यमानं विबुध्यताम्।।1261।।

वही धर्मध्यान आचार्यों की परिपाटी से अर्थात् गुरु के आम्नाय से चला आया भेद सहित संक्षेप से यहाँ वर्णन करेंगे। वास्तव में जो ऊपर बात कही है वह धर्मध्यान के आदि से अन्त तक होनी चाहिए। संक्षेप में कहा गया है। मन अपने वश होना, इन्द्रिय के विषयों से विरक्ति होना ये दो बातें बन सकें तो उसके धर्मध्यान बनता है। खूब खोज लो इन दो में से गलती क्या है? यह चित्त क्रोध में रहा करता है तो वहाँ धर्मध्यान कहाँ बनेगा। मन वश में नहीं रहता, विषयों में मन फँसा रहता वहाँ धर्मध्यान कहाँ से बनेगा? ये विषयकषाय जिसके शिथिल हुए उसके धर्मध्यान भी नहीं है और धर्मध्यान भी यही है कि विषयकषायों में परिणति न जाय। अपने आपके स्वरूप की प्रतीत रहा करे, वह धर्मधारण है।

श्लोक-1262

ज्ञानवैराग्यसम्पन्न: संवृतात्मा स्थिराशय:।

मुमुक्षुरुद्यमी शान्तो ध्याता धीर: प्रशस्यते।।1262।।

कैसा ध्यान करने वाला धीर पुरुष प्रशंसनीय है उसका इस लोक में वर्णन है, जो ज्ञान और वैराग्य से युक्त हो। ज्ञान और वैराग्य ये कर्मों की निर्जरा के कारण हैं। जैसे जो पुरुष मंत्रवादी है तो वह विष भी खाता जाय पर विष का उस पर असर नहीं होता, इसी प्रकार आत्मविद्या वाला पुरुष तत्त्वज्ञानी पुरुष भी विषयसेवन का कार्य करता है और मिथ्यादृष्टि भी विषयसेवन का कार्य करता है तो भी तत्त्वज्ञानी का वह विषयसेवन का कार्य उसे संसार में डुबाने वाला नहीं बनता है। उसका कारण क्या कि भीतर में उसके यह आशय बना हुआ है कि मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानवृत्ति मेरा कार्य है। यह कर्मों का दण्ड है ऐसी उसकी प्रतीति रहती है। भला बतलावो पापकार्य करते समय यह पापकार्य है, यह मेरा स्वरूप नहीं है, कर्मों का दण्ड है— इस प्रकार की प्रतीति किसके रह सकती है? तत्त्वज्ञानी हो वही यह ख्याल रख सकता है। भला कोई बहुत मिठाई भी खाता जाय और दो एक आँसू भी गिराता जाय और यह ध्यान करता जाय कि मिठाई खाना मेरा स्वरूप नहीं है, कहाँ इसमें मेरा उपयोग फँस रहा है? ऐसी बात तो तत्त्वज्ञानी पुरुष में ही पायी जाती है। तो विषयकषायों में प्रवृत्ति करते हुए उसका खेद बना रहना, उससे हटा हुआ सा रहना यह बात ज्ञान द्वारा प्राप्त होती है। जैसे सामने आग पड़ी है पीछे से किसी पुरुष को धक्का दे दिया और ऐसा धक्का दिया कि वह वहाँ ठहर न सका, आगे उसे बढ़ना पड़ा, कदम रखना पड़ा तो रखेगा तो जरूर और उस कदम में आग भी बीच में है, आग पर से भी जायगा किन्तु ऐसी सावधानी से ऐसा हटा हुआ ऐसी शीघ्रता से उस पर से जायगा कि वह कम जलेगा और किसी पुरुष को पता ही नहीं है कि कहाँ आग पड़ी है और ढकेल दिया, तो वह तो खूब जल जायगा क्योंकि उसे आग का कुछ पता ही नहीं है। तो इस ज्ञान का कुछ असर तो होता ही है प्रत्येक कार्यों में। तो ज्ञान से कर्मों की निर्जरा होती है। जिसे तत्त्वज्ञान जगा है वह पुरुष धीर वीर ध्याता है। दूसरी बात है वह वैराग्यसम्पन्न होना चाहिए। वैराग्य का अर्थ है उसमें राग न हो। राग न होकर भी उसमें प्रवृत्ति करना पड़ता है तो बंध वहाँ नहीं होता। आप सोचते होंगे कि ऐसा भी कोई काम है क्या कि जिसमें राग न हो और करना पड़े? हाँ है। जब किसी की शादी होती है तो उसमें पड़ोस की स्त्रियाँ गाने के लिए बुलाई जाती हैं। वे गाती हैं मेरे दूल्हा बना जैसे राम लखन। यह सब गाती हैं पर उनसे उस दूल्हा से कोई प्रयोजन है क्या? यदि दूल्हा घोड़े से गिर जाय और टाँग टूट जाय तो उन पड़ोस की स्त्रियों को उससे कोई खेद होगा क्या? खेद तो उस दूल्हे की माँ को होगा। वे स्त्रियाँ तो छटांक भर बताशों के लिए उस तरह से गाती हैं। उस दूल्हा में उन्हें राग नहीं है। किसी फर्म में मुनीम काम करता है। उसके हाथ में सारा हिसाब है, तिजोरी रखता है, बैंक का भी हिसाब रखता है, लोगों से लेनदेन करता है, यह भी कहता है कि हमको तुमसे इतना मिलना है, तुमको हमसे इतना मिलना है, यों सारी बातें करता है, व्यवहार करता है पर उस सबमें उसे राग नहीं है कि यह सब वैभव मेरा है। तो यों ही अनेक प्रसंग ऐसे

हैं कि बिना राग के वे कार्य करने पड़ते हैं। कैदियों से चक्की पिसाई जाती है, स्त्रियाँ तो घर में चक्की पीसते हुए में खुश होती हैं, पर वह कैदी भी चक्की पीसते हुए में खुश होता है क्या? वह चाहता है क्या कि मुझे चक्की पीसनी पड़े? वह तो यही चाहता है कि मुझे कब इससे अवकाश मिले? तो अनेक काम ऐसे हैं जिनमें राग न होते हुए भी करने पड़ते हैं। तो इन पंचेन्द्रिय विषयों में जो अंतरंग से राग नहीं है ऐसा धीर वीर पुरुष ही उत्तम ध्याता माना गया है। तीसरी बात है सम्वृत आत्मा इन्द्रिय मन जिसके वश हो वह सम्वृत आत्मा है। वही धर्म का ध्याता प्रशंसनीय माना गया है। जरा जरासी बात सुनकर जिसके क्रोध उत्पन्न हो जाय, अभिमान जग जाय, मायाचार की प्रवृत्ति हो, लोभ उत्पन्न हो जाय, ऐसा पुरुष धर्मधारण नहीं कर सकता है। जरा अपने आपसे पूछो कि हे आत्मन् ! तुम्हें चाहिए क्या? अगर यह चाह बनी है कि मेरे खूब वैभव जुड़ जाय तो इस चाह से फायदा क्या? क्या मरण न होगा? क्या यह पाया हुआ वैभव एक दिन छूटेगा नहीं? अरे कौनसा ऐसा कार्य है जिसके कर लेने से इस आत्मा का भला हो? जरा सोचते जाइये, लोक में इज्जत बना लेना, बहुत से प्राणियों में अपना परिचय बना लेना, अरे इनसे इस आत्मा को लाभ क्या? यहाँ के ठाठबाटों से, विषयकषायों से इस आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं है। चाह तो यह होनी चाहिए कि मैं अपने आत्मा में मग्न होऊँ। मैं रहूँ आप में आप लीन ऐसी चाह हो भीतर में? एक ही लक्ष्य रखें अपने जीवन में, मैं अपने आपके स्वरूप में लीन होऊँ ऐसी भावना भायें, यह चाहिए और कुछ न चाहिए। इसके अलावा कुछ भी बने बनने दो। चाह केवल यही है कि मैं अपने आपके स्वरूप में लीन होऊँ। देखो— यदि अपने आपमें सच्चाई के साथ यह चाह जगती है तो यह भी पूर्ण हो जायगी। इसी चाह का नाम है मुक्ति की चाह। मैं इन समस्त विभावों से, मोह रागद्वेषों से छुटकारा पाऊँ, ऐसा जो मुक्ति का इच्छुक पुरुष है वही उत्तम ध्याता होता है। वह आलस्यरहित हो, उद्यमी हो। प्रमादी पुरुष धर्मध्यान करने का अधिकारी नहीं है। इसीलिए प्रमादी पुरुषों को ऊनोदर तप बताया है। भूख से कम खाना, शान्तपरिणामी हो उसकी प्रकृति में शान्ति हो। देखिये अनेक प्रकार के पुरुष मिलते हैं आजकल भी। किसी-किसी को जरा-जरासी बात भी सहन नहीं होती। और कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि उन बातों की उपेक्षा कर जाते हैं। जिनके भीतर कुछ शिथिलता है उन्हें किसी की बात सहन नहीं होती और जिनके तत्त्वज्ञान जग रहा है उनके विरुद्ध भी कोई बात कहे तो वे उसे सहन कर लेते हैं। तो जो पुरुष शान्तस्वभावी होते हैं उनमें धर्मधारण करने की पात्रता होती है। जिनका चित्त अशान्त है वे पुरुष धर्म का पालन ही क्या करेंगे? वह ध्यानी पुरुष प्रशंसनीय है जो ज्ञानी हो, कष्टसहिष्णु हो। हम आपको भी चाहिए कि ऐसा तत्त्वज्ञान जगायें और भीतर में ऐसी प्रेरणा बनायें कि आर्तध्यान और रौद्रध्यान न बन सके और धर्मध्यान से अपने आत्मा को प्रसन्न रखा जा सके। मोह में, राग में, द्वेष में कुछ भी लाभ नहीं है। न शान्ति है और न कोई बाहरी पौद्गलिक लाभ है। आत्मा भी दिखे और नाना क्लेश भी सहने पड़ते हैं, इससे ज्ञान और वैराग्य से प्रीति जगे, यही अपने आपको संसार से निकालने के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए?

श्लोक-1263

चतस्रो भावना धन्या: पुराणपुरषाश्रिता:।
मैत्र्यादयश्चिरं चित्ते ध्येया धर्मस्य सिद्धये।।1263।।

धर्मध्यान की सिद्धि के लिए चार प्रकार की भावनाएँ चित्त में धारण करना चाहिए। वे चार भावनाएँ हैं— मैत्रीभाव, कारुण्य, प्रमोद और माध्यस्थ। ये चार भावनाएँ यथार्थरूप से सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानी के हुआ करती हैं और मंद कषाय में कदाचित् मिथ्यादृष्टि के भी हो जाय, पर जो इसका यथार्थ स्वरूप है पूर्ण सूक्ष्मरूप उस तरह से यह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष के ही होता है। आगे बताया जायगा जिससे यह स्पष्ट होता जायगा कि तत्त्वज्ञान में ही, किन्तु यथार्थरूप से ये चार भावनाएँ होती हैं प्रथम मैत्रीभावना को इन दो श्लोकों में कहते हैं।

श्लोक-1264,1265

क्षुद्रेतरविकल्पेषु चरस्थिरशरीरिषु।
सुखदु:खाद्यवस्थासु संसृतेषु यथायथम्।।1264।।

नानायोनिगतेष्बेषु समत्वेनाविराधिका।
साध्वी महत्त्वमापन्ना मतिर्मैत्रीति पठयते।।1265।।

सूक्ष्म और वादर दो भावों रूप जीवों में, त्रस और स्थावर यों दो भावोंरूप जीवों में, यह जीव सुख दु:ख आदिक वासनाओं में जैसे-तैसे उहरे हुए नाना भावयोनियों में, प्राप्त होने वाले जीवों में समानता से न विराधना करने वाली ऐसी महत्त्व को प्राप्त समीचीन बुद्धि मैत्री भावना कही जाती है, अर्थात् संसार के समस्त जीवों को उन्हें इस तरह से निरखावो, कोई जीव सूक्ष्म है कोई जीव वादर है। यद्यपि दो भेद एकेन्द्रिय में ही बताये हैं— सूक्ष्म पृथ्वीकाय, वादर पृथ्वीकाय। सूक्ष्म एकेन्द्रिय वादर एकेन्द्रिय इन दो इन्द्रियों में भेद नहीं बताया। इसका कारण है दो, तीन, चार और पंचइन्द्रिय जीव ये सब वादर ही होते हैं। तब सूक्ष्म और वादर कहने में सब जीव आ गए। अथवा त्रस और स्थावर कहने में सब जीव आ गए। स्थावर एकेन्द्रिय

और त्रस जीव दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पंचइन्द्रिय। इन समस्त जीवों में विराधना न हो, ऐसी समता हो कि किसी भी पुरुष का अहित न विचारे। न अहित की प्रवृत्ति करे ऐसी भावना का नाम मैत्री भावना है। मैत्री शब्द का सही भाव यह है कि अनुत्पत्ति दु:ख उत्पन्न न हो ऐसी अभिलाषा रखना, इसका नाम मैत्रीभाव है। जैसे लोग कहते हैं कि अमुक अमुक का घनिष्ट मित्र है तो मित्र होने का अर्थ क्या हुआ कि उसके दु:ख उत्पन्न होने की अभिलाषा नहीं रखता है। तो सब जीवों में किसी भी जीव को दु:ख उत्पन्न न हो ऐसी अभिलाषा रखना इसका नाम है मैत्री। सर्व जीव केवल परिचय वाले ही नहीं किन्तु जिसका आमने सामने का परिचय तो नहीं है परन्तु ज्ञानविधि से और आगमविधि से जाना सबको जा रहा है ऐसे सर्वसंसारी प्राणियों में किसी भी जीव की विराधना न करने का भाव हो जायगा। इसे मैत्री भावना कहते हैं। जैसे रामचन्द्रजी के समय की प्रासंगिक घटना एक कवि ने कहा है। जिस समय रामचन्द्रजी लंका को जीतकर घर आये और बडे आराम से बहुत समारोह की सभा हो रही थी। तो सब लोगों को राज्य वितरण कर चुके थे। तुम अमुक प्रदेश का राज्य सम्हाल लो। सबको राज्य सौंप दिया। लेकिन हनुमान को नहीं सौंपा। तो हनुमान भरी सभा में हाथ जोड़कर कहते हैं कि हे महाराज ! हमसे जो सेवा बनी है सो आप खुद जानते हैं, लोग भी समझते हैं। रामचन्द्रजी के समय में सबसे अधिक सेवा हनुमान ने की थी सीता का पता लगाना, युद्ध में बड़ी कुशलता दिखाना आदि। तो हनुमान कहते हैं कि आपने सब लोगों को तो राज्य दिया पर मुझे कुछ भी नहीं दिया। चाहिए मुझे कुछ नहीं, पर चिन्ता यह है मुझे कि आपने मुझे भुला क्यों दिया? तो रामचन्द्रजी जवाब देते हैं— मय्येव जीर्णतां यातु, यत्त्वयोपकृतं कपे। नर: प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिवाञ्छति। हे हनुमान जी ! तुमने हमारा उपकार किया सो उस उपकार की मुझे सुध भी न रहे यह मैंने तुम्हें दिया। लोग सुनकर आश्चर्य में पड़े, हनुमान भी आश्चर्य में पड़े कि मुझे यह क्या दे रहे हैं? जो तुमने उपकार किया वह सब उपकार में भूल जाऊँ, उसकी सुध न रहे यह दे रहा हूँ हनुमान तुमको। तो सब लोगों को इसमें कुछ सन्देह हुआ कि यह क्या दिया जा रहा है? तो सन्देह मिटाने के लिए रामचन्द्रजी फिर कहते हैं— नर: प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिवाञ्छति। हे हनुमान ! यदि तुम्हारे उपकार का हमें ख्याल रहेगा तो चित्त में यह बात आया करेगी कि मैं इनके उपकार का बदला चुकाऊँ। तो बदला देने का अर्थ यह है कि हनुमान !तुम पर विपत्ति आये और फिर उस विपत्ति को दूर करके तुम्हारे उपकार का बदला चुका लूँ। तो उपकार की सुध रखने में प्रत्युपकार की पुष्टि होती है। इन पर विपत्ति आये और तब मैं इनकी विपत्ति मेटूँ ऐसा मैं नहीं चाहता। यहाँ मैत्री भावना में यह कह रहे हैं कि संसार के समस्त प्राणियों में किसी के प्रति भी विपत्ति न चाहे, इसका नाम है मैत्रीभाव।

श्लोक-1266

जीवन्तु जन्तव: सर्वे क्लेशव्यसनवर्जिता:।
प्राप्नुवन्तु सुखं त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम्।।1266।।

इस मैत्री भावना में यह ज्ञानी पुरुष यह भावना कर रहा है कि ये सब जीव कष्ट विपदावों से दूर होकर सुखपूर्वक जीवे और बैर, पाप, अपमान को छोड़कर सुख को प्राप्त हों। इस प्रकार की भावना को मैत्री भावना कहते हैं। किसी को किसी प्रकार का कष्ट है, किसी को किसी प्रकार का। लौकिक पुरुष तो इसी बात में कष्ट समझते हैं कि मेरे धन कम हो गया, मेरी आजीविका अच्छे ढंग से नहीं चल रही है। कोई लोग तो इसको ही कष्ट समझ लेते कि आज किसी वस्तु का सुबह कुछ भाव बढ़ा हुआ सुना था शाम को भाव कुछ घट गया है। चीज यद्यपि वही की वही घर में रखी हैं, लेकिन कष्ट मानते हैं। तो जिसके जैसी बुद्धि है वैसे ही वह कष्ट समझता है। ज्ञानी जीव तो कष्ट इसको समझता है कि प्रभु की तरह विशुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव वाले इस आत्मा में विषय और कषायों के भाव उत्पन्न होते हैं और इसी दृष्टि से जीवों को कष्ट में पड़ा हुआ देखता है। हाय ! कितना बड़ा कष्ट है कि है तो आनन्दमय आत्मा और विषयकषायों के भाव हो रहे हैं जिससे निरन्तर क्षोभ चल रहा है। ज्ञानी पुरुष इन सब जीवों के प्रति ऐसी भावना करता है कि इनके कष्ट विपत्ति ये दूर हों, शुद्ध ज्ञान प्रकाश हो और शुद्ध रूप से ये जीवे। ज्ञान दर्शन की प्राप्ति जिनके है उन पुरुषों की शुद्ध वर्तना रहती है। यों तत्त्वज्ञानी पुरुष समस्त जीवों के प्रति ऐसी भावना करता है और फिर लौकिक पुरुष व्यवहारिक कष्टों से दूर हों इस प्रकार की भावना करते हैं, और ज्ञानी भी चूँकि ये लौकिक कष्ट में रहेंगे तो इनमें धर्मपालन की योग्यता नहीं जग सकती, अत: उन कष्टों से ये दूर रहें ऐसी भावना करता है। और वे सभी जीव बैर पाप और पराभव को छोड़कर सुखी होवें। जब चित्त में बैरभाव की दृष्टि रहती है तो चित्त में चिंताएँ रहती हैं। तो ये पुरुष इस बैरभाव को छोड दें। ऐसी मैत्री भावना में ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है। इसी प्रकार पापपरिणाम जब होता है तब भी चित्त में चैन नहीं रहता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, लालच जब ये परिणाम पैदा होते हैं तो यह अशान्त रहता है। सो ज्ञानी जीव समस्त जीवों के प्रति यह भावना करता है कि ये जीव पापपरिणाम को छोड दें और सुखी हों। इसी प्रकार पराभव की कल्पना जब चित्त में रहती है तब शान्ति नहीं मिलती। मेरी पोजीशन मिट गयी, मेरा अपमान हो गया— इस प्रकार का भाव चित्त में रहे तो बड़ा कष्ट है। तत्त्वज्ञानी पुरुष सब जीवों के प्रति यह भावना कर रहा है कि जीवों के पराभव के कष्ट भी न रहें। वस्तुत: किसी जीव का कोई पराभव कर नहीं पाता। स्वयं पराभव मान ले तो लो पराभव हो गया, लेकिन कोई चेष्टा ही तो करेगा। कोई सम्मान करे अथवा अपमान, उससे किसी दूसरे का क्या बिगाड़? जगत के ये जीव हैं, अपने आपमें परिणाम रहे हैं, कोई जीव किसी दूसरे का कुछ

भी करने में समर्थ नहीं। यहाँ के सम्मान अपमान क्या हैं और यह मैं क्या हूँ, ये सम्मान अपमान करने वाले लोग क्या हैं? इस पर भी तो कुछ विचार करना चाहिए। ये लोग सब मायारूप हैं, संसार में जन्म मरण करते फिर रहे हैं, ये कोइ्र मेरे अधिकारी नहीं। इनकी दृष्टि में मैं भला जँच गया तो इससे मेरा क्या सुधार और इनकी दृष्टि में बुरा बच गया तो इससे मेरा क्या बिगाड़? यह मैं स्वयं आत्मा भगवान हूँ, जो कुछ करूँगा करता हूँ वह खुद में ही होता है। इनके खुद जानकार रहते हैं, यह जीव यदि पराभव बनाता है, पाप बनाता है तो उससे इसका बिगाड़ है और अपने में यदि ज्ञान और वैराग्य बनाता है तो उससे इस जीव का सुधार है। तो पराभव की कल्पना करने में स्वयं को क्लेश है। इन पराभव की कल्पनाओं का परित्याग करें और सुखी होवें। ऐसी भावना यह धर्मध्यानी पुरुष सब जीवों के प्रति कर रहा है। मैत्री भावना के बाद अब कारुण्य भावना कह रहे हैं।

श्लोक-1267,1268,1269

दैन्यशोकमुत्त्रास रोगपीडार्दितात्मसु।
बधबन्धनरुद्धेषु याचमानेषु जीवितम्।।1267।।

क्षुत्तृट्श्रमाभिभूतेषु शीताद्यैर्व्यथितेषु च।
अविरुद्धेषु निस्त्रिंशैर्यात्यमानेषु निर्दयम्।।1268।।

मरणार्तेषु जीवेषु यत्प्रतीकारवाञ्छया।
अनुग्रहमति: सेयं करुणेति प्रकीर्त्तिता।।1269।।

जो जीव दीनता से, शोक से, भय से दु:खी हैं उन पुरुषों में अनुग्रह बुद्धि होती है। इनका दु:ख दूर हो— इस प्रकार की वृद्धि होना कारुण्य भावना है। इसी प्रकार राग से पीड़ित आत्मावों के प्रति ये राग से दूर हों— इस प्रकार का करुणाभाव लाना यह कारुण्य भावना है और जो बध बन्धन में होते हैं, जो जीवों का पालन करते हैं ऐसे पुरुषों को भी अनुग्रह बुद्धि करना कारुण्य भावना है। कारुण्य भाव जब जगता हे तब उनके समान अपने को मान लिया जाय। इन चार भावनाओं में कारुण्य भावना की बड़ी विशेषता है। मैत्री भावना में सब जीवों के प्रति मैत्री भावना कब जगे जब सबके समान अपने को अपने समान सबको माने। मित्रता छोटे बड़े में नहीं हो सकती, बराबर वाले में हुआ करती है। तो सभी जीवों में मित्रता का परिणाम तभी सम्भव है जब सबको और अपने को एक समान निरख सकें। तो तत्त्वज्ञानी जीव एक समान निरख लेते

हैं। केवल चित्स्वभावरूप आत्मा है वैसा ही मैं हूँ, वैसे ही ये सब हैं। सब जीवों में चैतन्यस्वभाव करके जब समता हमने धारण कर ली तो मैत्री भावना जगती है, इसी प्रकार यह कारुण्य भावना है। दया कब होती है? जिसके प्रति दया की जा रही है उसके समान अपने को समझ सके तो दयाभाव जगता है। जैसे किसी भूख से पीड़ित पुरुष को देखा तो उसे देखकर अपने आपमें भी एक यह आ जाता कि ऐसा भूखा मैं होता तब मुझ पर क्या बीतती है? उस कष्ट का वह अनुमान कर लेता है अपने आप पर घटाकर। करुणा की शैली यही है। चाहे कोई जीव ऐसा न बोल सके, ऐसा विश्लेषण न कर सके तब भी बात यह होती है कि सब दया से भर जाते हैं। कभी रास्ते में कोई जीव काटा छेदा भेदा जा रहा हो, सताया जा रहा हो तो उसे देखकर जो करुणा जगती है कि यह जीव भी मेरे ही समान है, इस पर जो विपत्ति आयी है ऐसी कभी मुझ पर आये तो कैसी भीतर में पीड़ा उत्पन्न होती है। ये सब बातें देखते ही दूसरी सब बातें आ जाती हैं। कहने में तो देर लगती है किन्तु इस झलक में देर नहीं लगती, तो जब उन दु:खी जीवों के समान अपने आपमें उसे निरख लिया गया अन्तर में तब यह कारुण्य जगा। कारुण्य का दूसरा नाम है अनुकम्पा। और अनुकम्पा का सीधा अर्थ है अनुसार कंप जाना। जैसे कि कोई दु:खी पुरुष है जैसा दु:ख है उसके अनुसार यहाँ का दु:ख अनुभव में आये तब अनुकम्पाभाव जगता है। किसी पशु को बहुत अधिक पिटता हुआ देखकर जो मन में दया उपजती है उस दया का कारण यह है कि उसे पिटता देखकर तुरन्त ही अपने आपमें यह भीतर भावना बन जाती है कि मैं ही तो यह हूँ, जीव मैं हूँ, जीव यह है। जो बात इस पर बीत रही है वह मुझ पर भी बीत रही है, वह मुझ पर भी बीत सकती है, यों खुद में बसी भावना बनी तब जाकर कारुण्य भाव बना और उन दु:खी जीवों का दु:ख दूर करने के लिए सब खर्च भी करने लगा। इस मर्म को तो वे भिखारी तक भी जानते हैं जो जाड़े के दिनों में उघाड़ें होकर कँपती हुई भाषा में बड़े कर्त स्वर से चिल्लाते हैं और धनिक लोग दया आ जाने के कारण उन्हें कपड़ा अन्न वगैरह दे डालते हैं। तो वे धनिक लोग पहिले उसके ही दु:ख के समान अपने में दु:ख बना डालते हैं तब अपने आप पर दया करके उनके प्रति करुणा का भाव लाते हैं। यदि खुद में वैसे दु:ख का अनुभव न बने तो उन पर दया नहीं आ सकती। जो पुरुष क्षुधा तृषा थकान से पीड़ित हैं, जो बाधावों से व्यथित हैं उनमें अनुग्रह बुद्धि होना इसका नाम कारुण्य है। भूख सबको लगती है, क्या धनिक भूखे नहीं रहते हैं लेकिन भूख उन्हें भी लगती है तब ही तो भोजन करते हैं और भूख का उन्हें अनुभव है। यद्यपि उन्हें प्यास की वेदना नहीं सहनी पड़ती चिरकाल तक लेकिन पानी पीते हैं ये धनिक जन भी तो कोई प्यास से पीड़ित हो तो झट उसकी वेदना को समझते हैं। तो भूख और प्यास की वेदना का अनुभव सभी जीवों को है। तो ये दयालु पुरुष दूसरों की क्षुधा तृषा आदिक वेदनाओं को देखकर सब तुरन्त समझ लेते हैं कि यह कितना दु:खी है? तो यह जो चित्त में बात हुई उससे जो खुद दु:खी हुआ उस दु:ख को दूर करने के लिए लोग उपकार करते हैं, दान करते हैं, दूसरों का दु:ख छुटाते हैं। तो ऐसे कथित प्राणियों में अनुग्रह बुद्धि करना इसका नाम है कारुण्य भावना। जो पुरुष निर्दय पुरुषों की निर्दयता के कारण पीड़ित हैं

और मरण के दु:ख से प्राप्त हैं उन दु:खी जीवों के दु:ख को दूर करने के उपाय की बुद्धि करना, भाव रखना इसका नाम कारुण्य भावना है। दूसरों के दु:ख को देखकर स्वयं में क्लेश होना, अनुकम्पा बनना यह कारुण्य भावना है। तत्त्वज्ञानी जीव विषयकषायों से दु:खी जगत के जीवों के प्रति यह भावना करता है कि इनके ये विषयकषायों के विकल्प दूर हों और ये वास्तव में सुखी हों।

श्लोक-1270,1271

तप:श्रुतयमोद्युक्तचेतसां ज्ञानचक्षुषाम्।
विजिताक्षकषायाणां स्वतत्त्वाभ्यासशालिनाम्।।1270।।

जगत्त्रयचमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनाम्।
तद्गुणेषु प्रमोदो य: सद्भि: सा मुदता मता।।1271।।

जो गुणी पुरुष हैं उनमें हर्षभाव करना, हर्षभाव की भावना रखना सो प्रमोद भावना है। कैसे हैं वे गुणीजन जिनके गुणों में प्रमोद किया जाता है। वे तपश्चरण में उद्यमी रहा करते हैं। तपश्चरण नाम है इच्छा का निरोध और जो पुरुष जगत के किसी भी विषय की वाञ्छा न रखता हो ऐसा पुरुष लोक के द्वारा भीतर से आदरणीय है और उसकी ओर लोगों का आकर्षण होता है और उसके प्रति हर्ष भावना हुआ करती है। यह तो एक साधारण बात की बात है किन्तु जो मुमुक्षु जीव हैं जो इच्छा विभावों से सर्वथा मुक्त होने की वाञ्छा रखते हैं ऐसे पुरुषों को तपस्वी गुणी जन दिख जाय, इच्छा निरोध करके जिनका मन निर्मोह और पवित्र होता है ऐसे गुणी पुरुष दिख जायें तो उनमें प्रमोदभाव करते हैं, इसी प्रकार जो श्रुत में बड़े हैं, ज्ञानदृढ़ है उनके ज्ञानगुण को निरखकर कैसा पवित्र चित्त है, रागद्वेष रहित हैं अतएव ज्ञान का बड़ा विकास है, पूर्वबद्ध ज्ञान है, अवधिज्ञान है, मन:पर्ययज्ञान है, विवेकशील हैं, शास्त्र का मर्म इन्होंने प्राप्त कर लिया है इस ही कारण संसार, शरीर, भोगों से इनका प्रयोजन नहीं रहा है। केवल एक आत्मध्यान में ही जिनकी उमंग रहती है ऐसे ये श्रुत अन्तरङ्ग तत्त्वज्ञानी जीवों के प्रति गुणों का अनुराग होना सो प्रमोदभावना है। इसी प्रकार जो यम और नियम में उद्यमी पुरुष हैं, जिनका चित्त ऐसा विरक्त है कि किसी भी व्रत संयम को आजीवन धारण करने का संकल्प करने में विलम्ब नहीं होता। जो उचित कर्तव्य को जीवनभर निभाने के लिए प्रतिज्ञा और समय-समय पर अनेक आवश्यक कर्तव्यों का पालन करते हैं ऐसे यमनियमसहित गुणी पुरुष हों तो उनको देखकर मुमुक्षुवों के प्रमोदभावना जगती है। जिस पुरुष के सम्बंध में यह विदित हो जाय कि यह बहुत आसक्त लम्पटी है, खाने पीने का बहुत प्रेमी है, अपने गुजारा स्वार्थसाधना के लिए तत्पर

रहता है ऐसी बात जिसके सम्बंध में विदित हो तो लोगों का उसके प्रति प्रमोदभाव नहीं रहता, और जो निर्मोह हैं, तत्त्वज्ञानी हैं, व्रत नियम का भली-भाँति पालन करते हैं ऐसे महतो के प्रति अनेक पुरुषों का सम्मान हो जाता है और उनके गुणों में प्रमोदभाव जग जाता है। फिर यहाँ ये मुमुक्षु जन जिनमें संसार के संकटों से मुक्त होने का साधन व्रत, नियम, संयम, ध्यान, ज्ञान माना है और इन ही बातों में बढ़े हुए हैं तो उनको देखकर निष्कपट प्रेमभाव जगता है और हर्षभाव होता है और ज्ञान ही है जिनका नेत्र ऐसे पुरुषों के गुणों में प्रमाद करना सो सज्जनों ने प्रमोद भावना माना है। एक विशेषता इनमें विषय कषायों विजय करने की होती है।

आतम का अहित करने वाले भाव हैं विषय और कषाय। जिन्होंने इन विषयकषायों को जीत लिया हे वे पुरुष लोगों की निगाह में पवित्र माने जाते हैं। सो सब समझते ही हैं। भले ही कभी गुणी जनों पर विपदा आये तो लोग उन्हें बेचारा कहकर उनका आदर करते हैं। बेचारे को देखो कैसा कर्म सता रहे हैं, यों उस गुणी जनों के प्रति लोगों की आस्था होती है। फिर जो मुक्ति के चाहने वाले हैं, जिन्होंने विषय कषायों के विजय को मोक्ष का साधन समझ लिया है वे इन विषय कषायों के विजय करने वाले पुरुषों को निरखकर बहुत हर्ष मानते हैं, यह है उनकी प्रमोद भावना और ये संत जन निज तत्त्व के अभ्यास करने में चतुर हैं। निज तत्त्व है विशुद्ध सहजज्ञानानन्द स्वभाव। मेरा शाश्वत तत्त्व मेरा सहजस्वरूप है, उस ज्ञानानन्दस्वरूप के उपयोग का अभ्यास रखने वाले पुरुष कितने पवित्र हैं कि देखो इनको संसार के विषयों से कोई वास्ता नहीं रहा। इन्हें किसी भी स्वार्थ से, कषाय से रुचि नहीं रही। ऐसे इस अपने अंतस्तत्त्व की धुन रखने वाले ज्ञानी जीवों के प्रति मुमुक्षु जीवों का ऐसा अपूर्व प्रमोद होता जो प्रमोद प्रिय से प्रिय कुटुम्ब और मित्रजनों में भी नहीं हो सकता। विशुद्ध प्रमोद यों जगता हे कि ज्ञानी जीव शुद्ध हृदय का है, निर्दोष है, निष्कपट है, और कुटुम्बी जनों में, मित्रजनों में यों वैसा प्रमोदभाव नहीं जगता है कि वे अपराधी हैं, दोषी हैं, मोही हैं। तो जो निज तत्त्व का अभ्यास करने वाले हैं, जिनकी धुन केवल आत्मा के ध्यानक रहती है उनके प्रति साधारण लौकिक जनों का भी आकर्षण होता है, और जो मुमुक्षुजन हैं, मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुष हैं वे तो ऐसे संत जनों को निरखकर विशेषतया प्रमुदित होते हैं। जिनका आचरण इतना उत्कृष्ट है कि लोगों के चित्त में एक चमत्कार उत्पन्न करने वाले उनके गुणों में प्रमोद होना प्रमोदभावना है। प्रत्येक मनुष्य को अन्तरंग से सदाचार और न्याय के प्रति अनुराग रहता है। जीव का स्वरूप हे विशुद्ध ज्ञान और विशुद्ध पथ की रुचि होना। कर्मोदयवश न चल सके, लेकिन फिर भी ऋषि पुरुषों के मन में सदाचार और न्याय के प्रति आस्था रहती है। तो जो पुरुष ऐसे आचरण के अधिकारी हैं जो सामान्य जनों से भी न किया जा सके, पंचममहाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति रूप आचरण और भी उत्कृष्ट ध्यान तपश्चरण ऐसे इन आचरणों को करने वाले पुरुषों के गुणों में अनुराग होना सो प्रमोदभावना है। धर्मध्यान के प्रसंग में सर्वप्रथम उन चार

भावनाओं को कहा जा रहा है जिनके भाने से मनुष्य इस लोक में आदर्शरूप होता ही है, किन्तु परलोक में भी वह निष्कंटकरूप विशुद्ध जीवन-यापन करता है।

श्लोक-1272,1273

क्रोधविद्धेषु सत्त्वेषु निस्त्रिंशक्रूरकर्मसु।
मधुमांससुरान्यस्त्रीलुब्धेष्वत्यन्तपापिषु।।1272।।

देवागमयतिव्रातनिन्दकेष्वात्मशंसिषु।
नास्तिकेषु च माध्यस्थ्यं यत्सोपेक्षा प्रकीर्तिता।।1273।।

अब माध्यस्थ भावना कह रहे हैं। जो पुरुष विपरीत वृत्ति वाले हैं उनमें उपेक्षा भाव रखना सो माध्यस्थ भाव है। जो पुरुष क्रोध से विद्ध हों, क्रोधी हों उनके प्रति न राग भाव रखना, क्योंकि क्रोधी पुरुष से यदि अनुराग रखा तो क्रोधी के राग का भी फल अच्छा न होगा। वह क्रोधी पुरुष उस राग करने वाले पर भी झुंझला जाता है। जैसे जब कभी क्रोध आता है तो उस क्रोध में बच्चे से बड़ा प्रेम करने वाली माँ भी उस बच्चे को पटक देती है, ऐसे ही क्रोधी पुरुष के द्वारा भी उससे राग करने वाले का अनर्थ हो जाता है। कोई लड़ रहा हो दूसरे से और यह जानकर कि यह जो क्रोधी पुरुष है, लड़ रहा है, मार खा जायगा— इस प्रेम से अगर कोई उसे बचाने पहुँच जाय तो वह क्रोधी उसी से झगड़ने लगता है। तो यह तो एक साधारण सी बात है, पर नीति यह कहती है कि जिसके क्रोध करने का स्वभाव पड़ गया है ऐसे पुरुष से राग करके भी लाभ नहीं और द्वेष करने में भी लाभ नहीं। वहाँ उपेक्षाभाव धारण करना चाहिए। जो पुरुष निर्दय और क्रूर कर्म करने वाले हैं उन पुरुषों में भी उपेक्षाभाव रखने से ही लाभ है। राग का प्रयोजन क्या, और द्वेष करके आपत्ति उठाई गई तो उससे फायदा क्या? तो ऐसे निर्दय क्रूर खोटे कर्म करने वालों से रागद्वेष न करके उपेक्षा भाव करना सो माध्यस्थ भावना है। जो लोग मच्छ माँस का भक्षण करते हैं, परस्त्री में लुब्ध हैं, अत्यन्त पापी हैं, व्यसनी हैं ऐसे पुरुषों से भी रागद्वेष न करके माध्यस्थभाव रखना सो माध्यस्थ भावना है।

जो पुरुष देव, शास्त्र, गुरु की निन्दा करने वाले हो और अपने आपकी प्रशंसा करने वाले हों उनमें भी उपेक्षाभाव रखना चाहिए। जो पुरुष देव, शास्त्र, गुरु की निन्दा कर सकता है ऐसे पुरुषों में राग करने से प्रयोजन क्या और वे क्रूर चित्त वाले होते हैं अतएव उनसे द्वेष करने से, बैर लादने से भी लाभ क्या? जो तत्त्वज्ञानी पुरुष हैं उनका ध्यान आत्महित का रहता है और आत्महित की अभिलाषा रखने वाले पुरुषों को अपने आत्मलाभ से ही प्रयोजन है। शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व का उपयोग बसना इसका नाम है

आत्मलाभ। वे दूसरों जीवों की चेष्टा में राग अथवा द्वेष नहीं करते। जो पुरुष अपनी प्रशंसा करने वाले हों गोष्ठी में, मंदिर में, जगह-जगह कहीं भी अपने आपकी अपने मुख से बड़ाई करने की आदत रखते हों उनसे राग करने का तो काम क्या? और द्वेष करके भी कोई अपने हित का प्रयोजन नहीं पाया जा सकता। ऐसे पुरुषों के प्रति भी रागद्वेष भाव न करके उपेक्षा करना सो माध्यस्थ भावना है। इसी प्रकार जो नैतिक जन हैं जो परलोक नहीं मानते, आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते, परमात्मा को नहीं मानते। आदर्श क्या है? उत्कृष्ट तत्त्वज्ञान क्या है, आत्मा का अन्तिम उत्थान का रूप क्या? इन बातों में जिनकी श्रद्धा बन जाय उल्टा इस ही कारण विषय कषायों में आसक्ति रहे ऐसे पुरुषों में उपेक्षाभाव रखना सो माध्यस्थ भावना है। ये चार प्रकार की भावनाएँ समता की साधना कराने वाली हैं। इन 4 में रहकर भी पुरुष सम बन जाता है। सब जीवों में मित्रता होना यह तो प्रकट समता है। दु:खी जीवों को देखकर करुणा भाव उत्पन्न होना यह भी समता का ही यत्न है। जैसे कोई पुरुष भूखा है उसे भोजन देना, प्यासे को पानी पिलाना, इनमें भी साम्य भावना है। प्रत्येक दुखियों को निरखकर करुणा भाव जगने का अर्थ यह है कि उसके साथ अपने आपके स्वरूप की तुलना में समता की और उस समता के प्रसाद से करुणाभाव जगा है। किसी दु:खी पशु को निरखकर करुणा इसी कारण तो जगती है कि अपने आपके चित्त में भी यह बात समा जाती है कि यही तो मेरा स्वरूप है, यही तो हम हैं, ऐसे ही तो हम हैं, हो सकते हैं ,होंगे, ऐसी उसके साथ समता की वृत्ति जगी तो यही करुणाभाव उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार प्रमोदभावना में गुणों को निरखकर जो एक हर्ष का भाव प्रकट होता है उससे यह मुक्ति में विकास करेगा। तो इन उपायों से वह गुणियों में समान बन जायगा, माध्यस्थ में तो शब्द ही बोलते हैं कि समता परिणाम कर रहा है। इस इन चार भावों में समता के बर्ताव की सीख मिली हुई है।

श्लोक-1274

एता मुनिजनानन्दसुधास्यन्दैकचन्द्रिका:।
ध्वस्तरागाद्युरुक्लेशा लोकाग्रपथदीपिका:।।1274।।

इस प्रकार जो ये चार भावनाएँ कहीं, वे मुनिजनों को आनन्दरूपी अमृत के झराने में चन्द्रमा की चाँदनी के समान हैं। लोक में यह सिद्धि है कि जब चन्द्र की चाँदनी फैलती है तो यह चन्द्र अमृत बरसाता है, इतना तो होता ही है कि आताप संताप कम हो जाता है। जैसे आषाढ़ के महीने में कृष्ण पक्ष में देखो कितनी गर्मी लगती है और शुक्ल पक्ष की रातें अपेक्षाकृत शीतल रहती हैं। शुक्लपक्ष में चन्द्र रहता है रात्रि

को तो एक संताप मिट जाता है। तो चन्द्र की किरणों में एक ऐसी अद्‌भुत छटा है कि वहाँ बसकर लोगों का संताप कम हो जाता है। तो जैसे अमृत बरसाने वाले चन्द्र की चाँदनी है इसी प्रकार ये चार भावनाएँ मुनि जनों के आनन्दरूप अमृत को बरसाने वाली हैं। जो इन चारों भावनाओं का उपयोगी होगा वह इन भावनाओं के अनुकूल अपनी प्रवृत्ति रखेगा, ऐसे संतजनों को शाश्वत आनन्द प्रकट होता है। तो ये चार भावनाएँ मुनिजनों के चित्त को आनन्दामृत बरसाने में चन्द्र की चाँदनी की तरह हैं। और इन भावनाओं से रागादिक के बड़े क्लेश ध्वस्त हो जाते हैं। क्लेश मात्र इतना ही है। सबके क्लेश हो रहे हैं किसी न किसी रूप में। उन सब क्लेशों में यही बात पायी गयी है कि किसी पदार्थ में राग है तब यह क्लेश बना। जैसे तत्त्वज्ञान विशुद्ध दृढ़ हो जाय, किसी भी परपदार्थ में राग न रहे तो उसको क्लेश क्या? समग्र परवस्तुवों को पर जान लिया जाय तो फिर क्लेश किसका नाम है यहाँ के वैभव को अपना मानो तो न रहेगा, न मानो तो न रहेगा। यदि सत्य बात समझ में आ जाय कि यह वैभव मेरे से अत्यन्त भिन्न है, अहित रूप है तो फिर उसमें क्लेश की क्या बात रही? इष्ट का वियोग होना, मनोवाञ्छित कार्यों की सिद्धि न होना इनको ही लोग क्लेश की बात मानते हैं। ज्ञानी जीव ज्ञानीबल से अपने आपको उनसे हटा लें और निज सहज ज्ञानस्वरूप में उपयोग रमा लें तो फिर बतावो कि उस समय उसके क्लेश है क्या? रागादिक भावों का उत्पन्न होना यही महान क्लेश है। इन चार भावनाओं के प्रसाद से रागादिक के क्लेश समस्त ध्वस्त हो जाते हैं। ये चार भावनाएँ लोगों को आगे-आगे अग्रपथ को दिखाने में दीपिका के समान हैं। जैसे कोई दीपक लेकर चले तो आगे-आगे पथ दिखता जाता है और तब चलने वाला नि:शंक होकर आगे बढ़ता चला जाता है। ऐसे ही जो मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ— इन चार भावनाओं को करता है और इन भावनाओं के अनुरूप अपनी प्रवृत्ति रखता है वह पुरुष क्लेश से रहित है और ये भावनायें उसे आगे-आगे कल्याणपथ दिखाती जाती हैं। फिर यह पुरुष उस ही रास्ते में प्रवृत्ति करता है ऐसे ही ये चार भावनायें आगे-आगे शान्ति के पथ को दिखाती जाती हैं और आत्मा उन पर चलकर सदा के लिए संकटों से मुक्त हो जाता है। इन चार भावनाओं को तत्त्वज्ञानी पुरुष भाते हैं और अपने दुष्कृतों का उच्छेद करते हैं।

श्लोक-1275

एताभिरनिशं योगी क्रीडन्नत्यन्तनिर्भरम्।
सुखमात्मोत्थमत्यक्षमिहैवास्कन्दति ध्रुवम्।।1275।।

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ— इन चार भावनाओं से यह योगी सातिशय आत्मा से उत्पन्न हुए सुख की प्राप्ति करता है। विषय और कषाय की वासना में तो जीव को अशान्ति होती है। कदाचित् किसी भी विषय में खाने-पीने में, सुगंध लेने में, सुन्दर रूप देखने में, राग रागिनी सुनने में किस ही प्रकार के विषय को कभी यह जीव सुख भी मानता है, लोक में सुख मानने की दशा में भी अशान्ति ही बर्त रही है। जैसे जिसका फोड़ा अच्छा हो जाय वह मरहम पट्टी क्यों करे? जिसका ज्वर शान्त हो गया वह बहुत सी रज़ाई ओढ़कर पसीना क्यों लेगा? इसी प्रकार जिसके विशुद्ध आनन्द है, शान्ति है वह विषयों की प्रवृत्ति क्यों करेगा? विषयों में तब लगता है जीव जब कोई वेदना हो। खाता कब है मनुष्य जब क्षुधा की वेदना होती है। तो खाने से पहिले भी दु:ख है कि नहीं। और खाते समय वहाँ भी अशान्ति है। अब क्या खा रहे हैं, अब क्या खायेंगे यों मन में सोच रहे हैं, ये सब अशान्ति के लक्षण हैं। और फिर खाने के लिए लोग स्वयं अनुभूति कर सकते हैं कि जिस समय बड़ी रुचि ये स्वादिष्ट भोजन खाते हैं तो फिर कहाँ अपने आत्माराम की सुध रहती कहाँ के भगवान, कहाँ का आत्मस्वरूप? तो क्या ये शान्ति के लक्षण है? तो विषयकषायों में जो प्रवृत्ति होती है वह अशान्ति से होती है। तो विषयकषाय की वासना से जीव को अशान्ति रहता है किन्तु ये चार भावनाएँ जगें, सब जीवों में मित्रता का भाव हो, गुणी जनों को देखकर हृदय में अधिक हर्ष उत्पन्न हो, दु:खी जीवों को देखकर कारुण्य भाव जगे, उद्दण्ड, गुण्डा आदि मनुष्यों को देखकर माध्यस्थ भाव जगे, उनमें राग अथवा द्वेष न करें, इन भावनाओं का बड़ा प्रताप है, इसके प्रसाद से योगीजन शुद्ध आत्मीय आनन्द का अनुभव करते हैं। संसार के सब जीवों में से दो चार जीवों को तो अपना सर्वस्व मान लें और गैर के सब जीवों को 'ये न्यारे हैं' ऐसा गैर समझ लें, ऐसा अज्ञान इन सम्यग्दृष्टिजनों में नहीं बसा है। भले ही परिस्थितिवश करना यों पड़ता है कि घर के चार छ: जीवों की फिकर रखनी होती है, उनकी सेवा शुश्रूषा में धन का व्यय भी किया जाता है, इतना सब होने पर भी सम्यग्दृष्टि पुरुष इतना अनुदार नहीं है कि वह इनके लिए ही अपना जीवन समझे। समस्त प्राणियों का स्वरूप उसके निर्णय में है और उस स्वरूप की अपेक्षा सब जीव बराबर हैं। बने तो ऐसा हृदय की सब जीव एक समान हैं, देखो इसमें अद्भुत शान्ति और आनन्द प्रकट होता कि नहीं। आखिर थोड़े समय का जीवन है, इन सबका वियोग अवश्य होगा। इनमें आसक्ति रखने का आखिर परिणाम क्या होगा? वियोग के समय में अधीर होना पड़ेगा। कितने ही लोग तो अपना जीवन भी खो देते हैं ऐसे तो काम न चलेगा, आत्मा का विशुद्ध आनन्द तब बनता है जब सब जीवों को अपने समान शुद्ध ज्ञानस्वरूप में समझ लें। यह तो बंधनरहित होने की बात है कि अन्य किसी जीव में मोह ममता का बन्धन न रहे। समस्त जीवों से मोह हटे, केवल अपने आपके स्वरूप में अपनी प्रतीति बनायें। यों देखो आनन्द कितना विलक्षण अनुपम होता है? आत्मोद्धार की बहुत कुछ चिन्तना करना चाहिए, अन्य सब बाहरी बातों की चिन्तना करने से लाभ क्या? यहाँ की मोह ममता, ये सब चिन्तनाएँ स्वप्नवत् हैं। जैसे स्वप्न में मिलता कुछ नहीं ऐसे ही मोह की नींद में कोई तत्त्व नहीं मिलता। दुर्लभ जिन्दगी पाकर उसे यों ही पापों

में गवाँ देना पड़ता है। तो उन सब संकटों के मिटाने का उपाय इस धर्मध्यान के प्रसंग में कह रहे हैं कि मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ— ये चार प्रकार की भावनाएँ हैं। इनके प्रसाद से एक अद्भुत शान्ति और आनन्द की जागृति होती है।

श्लोक-1276

भावनास्वासु संलीन: करोत्यध्यात्मनिश्चयम्।
अवगम्य जगद्वृत्तं विषयेषु न मुह्यति।।1276।।

इन चार भावनाओं में लीन हुए योगी अपने अध्यात्म का निश्चय करते हैं। आत्मा की दृष्टि आत्मा के स्वभाव पर रहे और यह अनुभव करते रहें कि मैं सबसे न्यारा ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ। ऐसे महान पुरुषार्थ का अवसर मिले, आत्मा सिवाय भावों के और कुछ नहीं करता। पाप करे तो वहाँ भी भाव ही तो बनाया कि परद्रव्य का कुछ किया। इसी प्रकार धर्म करे तो वहाँ भी भाव ही बनाया। यह जीव परद्रव्यों का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। तो जब यह जीव मात्र भाव ही बना सकता है तो खोटे भाव न बनाकर उत्तम भाव बनायें। सब जीवों का स्वरूप अपने ही स्वरूप के समान समझना और ऐसे उस सामान्य चित्स्वरूप का ध्यान करना जिस ध्यान में यह एक रस हो जाता। जगत के जीवों को अपने ही स्वरूप के समान समझता। इस प्रकार अपने शुद्ध स्वरूप की भावना में जो लीन होता है वही अध्यात्ममर्म का परिचयी बन सकता है। यही सारभूत है ऐसा ही करने से जीव का उद्धार है। ये दिखने वाले पदार्थ इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थ हैं क्या? एक स्कंध हैं। अनेक परमाणुवों का मिलकर पिण्ड बनता है और देहरूपी पिण्ड तो ऐसा अपवित्र है कि जिसमें सार का कोई नाम नहीं है। ऐसा जो शरीर के प्रति भली-भाँति जानता है वह विषयों में मुग्ध नहीं होता। जिन जगत के जीवों में लोग कीर्ति चाहते हैं, मान चाहते हैं, यश चाहते हैं वे लोग हैं क्या चीज? यहाँ वहाँ से अनेक गतियों से मरण करके आज इस भव में आये हैं, कर्मों के प्रेरे हैं, जन्म मरण का चक्कर लगा है, स्वयं अशरण हैं, ऐसे इन अशरण पुरुषों में क्या मुग्ध होना? जो ज्ञानी पुरुष हैं वे इन जीवों में मुग्ध नहीं होते। तो चार प्रकार की भावनाओं का पालन करने के लिए उपदेश किया गया है ऐसी भावना भावें कि हे नाथ ! मेरा आत्मा सब जीवों में मित्रता को धारण करे। मेरा कोई विरोधी नहीं। मैं किसी का विरोधी नहीं। कोई भी मेरे प्रतिकूल चले, अन्याय करे, अपने को न जँचे तो भी स्वरूप को समझकर उसका कल्याण ही चाहें। उसके प्रति यदि अपना बर्ताव भला रखें तो फिर उसका विरोधी कहाँ रहा? किसी भी विरोधी का घात करके मिटाने से समझना कि मेरा विरोध मिट गया तो यह भूलभरी बात है।

अपने ही स्वरूप के समान उनके स्वरूप का स्मरण रखकर उनमें मित्रता धारण करें। जो गुणी पुरुष हैं, सम्यग्दृष्टि हैं उनके सम्यक्त्व में प्रमोद जगना, हर्ष मानना यह भी तत्त्वज्ञानी जीव कर पाते हैं। जिसे सम्यक्त्व जगा है वही दूसरों पुरुषों के सम्यक्त्व गुण में रुचि करेगा। जिसे सम्यग्ज्ञान जगा है वह पुरुष दूसरों के ज्ञानगुण में अनुराग करेगा। जिसे स्वयं में प्रेम है व्रत, तप, नियम का जो पालन करता है, वह ही पुरुष दूसरों के यम नियम आचरण को देखकर उनमें हर्ष मानेगा। हे प्रभो ! मेरा आत्मा गुणी पुरुषों को देखकर हर्षभाव को धारण करे, ऐसे ही कोई क्षुधा से, तृषा से या ठंड गर्मी से अनेक प्रकार से दु:खी हों उनको देखकर चित्त में दयाभाव हो जाना सो कारुण्य है। दया जब उत्पन्न होती है तो उससे रहा नहीं जाता उसका दु:ख दूर करने का यत्न करता है। कोई पुरुष ऐसा सोचे कि शास्त्र में लिखा है कि दुखियों को देखकर दया का परिणाम कर लेंगे स्वर्ग मिल जायगा। यों दया का परिणाम कोई मुँह से कर ले तो उसमें दया का परिणाम नहीं बन पाया। जब दूसरे के दु:ख को देखकर खुद का हृदय सुखी हो जाता तब उसमें दया का भाव आता है, उस समय अपने दु:ख को शान्त करने के लिए यह उपाय है कि उसका दु:ख कर लें। यों एक प्रसिद्ध उलाहना है कि कोई बुढ़िया गोबर से अपना घर लीप रही थी, उसे रूढ़िवश कुछ धर्म से प्रेम था। तो वह यह कहती जाय कि चींटी-चींटी चढ़ो पहाड़, तुम पर आयो गोबर की धार। तुम न चढ़ो तो तुम पर पाप, हम न कहें तो हम पर पाप। तो यह दया का कोई भाव नहीं है। तो ऐसी ही कोई जाप्ता की कार्यवाही किसी दु:खी को देखकर दया का परिणाम कर लेना यह तो दया का सच्चा भाव नहीं है। जैसे लोग धर्म का पाठ एक जाप्ते से कर लेते हैं तो धर्म नहीं लगता। आत्मदृष्टि बने, ज्ञानस्वभाव से प्रेम जगे और इस ही ज्ञान में लीन होने की उत्सुकता बने तो धर्म का पालन होता है। यों जाप्ते की कार्यवाही से धर्म का लाभ नहीं मिलता। तो ऐसे ही दु:खी जीवों को देखकर हृदय में करुणा जग जाय। जैसे शास्त्र में लिखा है कि मनुष्यों को दान देने में पुण्य होता है और दान कोई कर रहा है उसका अनुमोदन करने से पुण्य होता है, तो दान दो तो उतना ही पुण्य और अनुमोदना करो तो वही पुण्य, इसलिए रोज अनुमोदना करते जावो तो यह कोई सही करुणा नहीं है। यद्यपि अनुमोदना करने से पुण्य का कुछ न कुछ लाभ होता ही है पर दान पुण्य स्वयं कर सके तो उससे विशेष लाभ है। ऐसे ही दु:खी जीवों को देखकर मन में दया का भाव उत्पन्न करना उन्हीं पुरुषों में सम्भव है जो दूसरों के दु:ख को मिटाने का यत्न करते हैं। हे प्रभो ! मेरा आत्मा दु:खी जीवों को देखकर दया से भर जाय, यों ही जो प्रतिकूल हैं, उद्दण्ड हैं ऐसे पुरुषों में उपेक्षाभाव धारण करें। इस प्रकार जो भावना में लीन होते हैं, जगत की वृत्ति को जानते हैं वे अपने आत्मा में अध्यात्म निश्चय करते हैं और विषयों में मुग्ध नहीं होते।

श्लोक-1277

योगनिद्रा स्थितिं धत्ते मोहनिद्रापसर्पति।
आसु सम्यक्प्रणीतासु स्यान्मुनेस्तत्त्वनिश्चय:।।1277।।

इन भावनाओं को जो भली प्रकार भाते हैं, अभ्यास करते हैं उन मनुष्यों के मोहनिद्रा तो नष्ट होती है और योगनिद्रा प्रकट होती है। जैसे मोहनिद्रा में किसी अन्य का भान नहीं रहता, जिस धुन का मोह हुआ केवल वह भान में रहता है इसी प्रकार ध्याननिद्रा में किसी भी परतत्त्व का ध्यान नहीं रहता। केवल एक विशुद्ध ज्ञान का अनुभव करने रूप आनन्द ही लूटा जाता है। तो इन भावनाओं का फल बता रहे हैं कि मोह रहता नहीं और योगनिद्रा प्रकट होती है और इसी कारण उनके तत्त्व का यथार्थ निश्चय होता है।

श्लोक-1278

आभिर्यदानिशं विश्वं भावयत्यखिलं वशी।
तदौदासीन्यमापन्नश्चरत्यत्रैव मुक्तवत्।।1278।।

जिस समय मुनि इन भावनाओं में लीन होकर समस्त जगत को भाता है उस समय जिसका जैसा स्वरूप है उस स्वरूप में लीन होकर इस लोक में ही मुक्ति के समान वृत्ति रखता है अर्थात् सबसे हटा हुआ बना रहता है। देखिये किसी का कोई दूसरा साथी नहीं है। खुद ही खुद का रक्षक है। यहाँ थोड़े से जीवन में परजीवों के प्रति, वैभव आदिक के प्रति आसक्त हो गए तो उससे लाभ क्या होगा? उन सबसे हटे रहने में और अपने स्वरूप की ओर ही लगने में आत्मा को शान्ति प्राप्त होती है, सदा के लिए संसार के संकट कट सकते हैं। यह एक निर्णीत तत्त्व है। विषय कषायों से लाभ होता है इस बात को तिलाञ्जलि दे दें। केवल आत्मदर्शन से आत्मरमण से आत्मपरिचय से ही कल्याण की प्राप्ति होती है।

श्लोक-1279

रागादिवागुराजालं निकृत्याचिन्त्यविक्रम:।
स्थानमाश्रयते धन्यो विविक्तं ध्यानसिद्धये।।1279।।

तत्त्वज्ञानी योगी रागादिक की फाँसी को जाल को काट कर ध्यान की सिद्धि के लिए विविक्त स्थान का आश्रय करते हैं। विविक्त स्थान वह है जहाँ लौकिक परिचय के लोगों का संग न रहे। ऐसे विविक्त एकान्त स्थान में रहते हैं और उस ही स्थान में निवास करते हैं, ऐसे स्थान का आश्रय तभी किया जा सकता है जब रागादिक की फाँसी को टाल दिया जाय। अब ध्यान के इस प्रायोगिक प्रकरण में सर्वप्रथम स्थानों का वर्णन किया जा रहा है कि ध्यान की सिद्धि के लिए कौनसे स्थान उत्तम हैं और कौनसे स्थान निषिद्ध हैं? उस स्थानों का ध्यानार्थी पुरुष क्यों आश्रय करते हैं कि विविक्त स्थान में राग के आश्रयभूत परपदार्थ न मिलेंगे। जब रागादिक की उत्पत्ति न हो तो आत्मा का ध्यान बनता है। इस आत्मध्यान में करना क्या है कि ज्ञान में ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप लिए रहना है। मैं ज्ञानमात्र हूँ— ऐसा ज्ञान निरन्तर बनाये रहना इसी का नाम ध्यान है।

श्लोक-1280

कानिचित्तत्र शस्यन्ते दूष्यन्ते कानिचित्पुन:।
ध्यानाध्ययनसिद्धयर्थं स्थानानि मुनिसत्तमै:।।1280।।

ध्यान की और शास्त्र अध्ययन की सिद्धि के लिए आचार्यों ने अनेक स्थान तो सराहें हैं और अनेक स्थान दूषित बताये हैं। कोई स्थान ऐसे हैं जहाँ ध्यान की सिद्धि बनती है और कोई ऐसे दोषयुक्त स्थान हैं कि जहाँ ध्यान की सिद्धि नहीं बनती है। आत्मा है ज्ञानमात्र और धर्म पाया जा सकता हे ज्ञान से ही और ज्ञान के ये दो साधन हैं— ध्यान और अध्ययन। ध्यान में भी ज्ञान की ही विशुद्धि है और आन्तरिक वृद्धि है और अध्ययन में ज्ञान की प्रगतिरूप वृद्धि है? तो ध्यान और अध्ययन की सिद्धि के लिए कौनसे स्थान उत्तम हैं और कौनसे स्थान खोटे हैं। इसका वर्णन किया जायगा। तो मुनिजनों ने कुछ स्थान योग्य बताये और कुछ स्थान अयोग्य बताये। इसका कारण क्या है उसे इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक-1281

विकीर्यते मन: सद्य: स्थानदोषेण देहिनाम्।
तदेव स्वस्थतां धत्ते स्थानमासाद्य बन्धुरम्।।1281।।

अगर सदोष स्थान मिले तो प्राणियों का मन शीघ्र विकार को प्राप्त हो जाता है। जिसका मन विकार न चाहे वह विकार की अवस्था में क्यों रहेगा और जो रहता है विकार के वातावरण में, सदोष स्थान में तो समझना चाहिए कि इसके चित्त में खुद भी दोष का लगाव है। तो पुरुषों का मन सदोष स्थान में रहकर शीघ्र विकार को प्राप्त हो जाता है और उत्तम स्थान को प्राप्त करके मन स्वस्थता को धारण कर लेता है। स्वस्थ होना अभीष्ट है। सर्वप्रथम दूषित स्थानों का उपदेश है कि ध्यान की अध्ययन की सिद्धि करने वाले पुरुषों को ऐसे स्थान में रहना चाहिए।

श्लोक-1282,1283,1284,1285,1286,1287,1288

म्लेच्छाधमजनैर्जुष्टं दुष्टभूपालपालितम्।
पाषण्डिमण्डलाक्रान्तं महामिथ्यात्ववासितम्।।1282।।

कौलकापालिकावासं रुद्रक्षुद्रादिमन्दिरम्।
उद्भ्रान्तभूतवेतालं चण्डिकाभवनाजिरम्।।1283।।

पण्यस्त्रीकृतसंकेतं मन्दचारित्रमन्दिरम्।
क्रूरकर्माभिचाराढयं कुशास्त्राभ्यासवञ्चतम्।।1284।।

क्षेत्रजातिकुलोत्पन्नशक्तिस्वीकारदर्पितम्।
मिलितानेकदु:शीलकल्पिताचिन्त्यसाहसम्।।1285।।

द्यूतकारसुरापानविटबन्दिवजान्वितम्।
पापिसत्त्वसमाक्रान्तं नास्तिकासारसेवितम्।।1286।।

क्रव्यादकामुकाकीर्ण व्याधविध्वस्तश्वापदं।
शिल्पिकारुकविक्षिप्तमग्निजीविजनाञ्चितम्।।1287।।

प्रतिपक्षशिर:शूले प्रत्यनीकावलम्बितम्।
आत्रेयीखण्डितव्यङ्गसंसृतं च परित्यजेत्।।1288।।

जिस स्थान में क्लेच्छ अधम जन रहा करते हैं ऐसे स्थान में ध्यानार्थी पुरुष नहीं रहते, क्योंकि वहाँ ध्यान के योग्य वातावरण नहीं है। जो दुष्ट राजा से पाला गया स्थान हो वह स्थान ध्यानार्थी के योग्य नहीं है, क्योंकि दुष्ट राजा के कारण कुछ बात न हो तब भी विचित्र उपसर्ग आ सकते हैं। हाँ उपसर्ग यदि आ जायें तो उनको समता से सहा जाता है पर जानबूझकर ऐसे उपसर्ग वाले स्थान में धर्मध्यान की सिद्धि नहीं होती है। अत: धर्मार्थी को ऐसे स्थान में रहना योग्य नहीं है। जो स्थान पाखण्डी साधुवों के समूह से आक्रान्त हों वह स्थान भी ध्यान के योग्य नहीं है। जिसके ज्ञान नहीं, वैराग्य नहीं और ऐसे ही किसी प्रयोजन से भेष धारण कर लिया है, जो प्रकट भी कुमत हैं और अन्तरङ्ग में भी विरक्त नहीं हैं ऐसे पाखण्डियों के समूह से भरा हुआ जो स्थान है वह ध्यान के योग्य नहीं है, क्योंकि उनकी चर्या और भाँति की है और धर्मार्थी की चर्या है और प्रकार की, इस कारण ध्यानार्थी पुरुष पाखण्डी साधु जनों के बीच में नहीं रह सकते, अतएव पाखण्डियों के समूह से भरा हुआ स्थान ध्यान के योग्य नहीं कहा गया है। और जो स्थान महामिथ्यात्व से वासित हो, जहाँ मिथ्यात्व का संचार हो, प्रचार हो ऐसे स्थान भी ध्यान के योग्य नहीं बताये गए। चाहे वह जैन स्थान भी हो, जिन मंदिर की भी जगह हो लेकिन जहाँ लोग अपने स्वार्थ के लिए, विषयसाधनों के लिए जाया करते हों, बोली बोलकर मुकदमें की जीत हो, मेरे धन अधिक बढ़े आदि, ऐसे स्थान में भी ध्यानार्थी का ध्यान नहीं बनता। चाहे वह जैन मंदिर के नाम से भी हो लेकिन जहाँ आवागमन केवल विषयवासना के साधनों के लिए ही होता हो वह स्थान भी मिथ्यामार्ग से वासित है, और मिथ्यामार्ग से वासित स्थान में ध्यानार्थी को ध्यान की सिद्धि नहीं हो पाती। अत: ध्यानार्थी को ऐसे स्थान में रहना योग्य नहीं है। इसी प्रकार जहाँ मौलिक आपालिक रहा करता हो, कुलदेवता अथवा योगिनीयों का जो स्थान हो वह भी ध्यान के योग्य नहीं है। कुलदेवता उसे कहते हैं जिसके कुल में किसी ब्याह संस्कार आदि काम के लिए जिस देवता की मान्यता बना रखी हो वह कुलदेवता कहलाता है। जैसे भिन्न-भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न स्थान ऐसे निश्चित हैं कि विवाह शादी आदिक प्रसंगों में मीठा, पत्तल आदिक चढ़ाने जाते हैं। वे सारे कुलदेवता हैं। ऐसे कुलदेवता का स्थान ध्यानार्थी की ध्यानसाधना के लिए योग्य नहीं है। इसी प्रकार जो चंडिका का, मंडिका का चौक हो जहाँ पशु वध करके मनौती मानायी जाती हो ऐसा स्थान भी ध्यानार्थी के ध्यान के योग्य नहीं है। जिस स्थान पर वेश्याएँ रह रही हों, जहाँ उनका आवागमन हो वह स्थान भी ध्यानार्थी के ध्यान के योग्य नहीं कहा गया है। जो छुटपुट देवताओं के मंदिर हैं, जहाँ वीतरागता का कोई पक्ष नहीं मिलता, जिसकी मुद्रा भी राग और द्वेष का संकेत करने वाली है ऐसा स्थान भी ध्यानार्थी पुरुषों के ध्यान के योग्य नहीं कहा गया। जहाँ किसी प्रकार का गृहीत मिथ्यात्व का बसा हुआ है, जहाँ गृहीत मिथ्यात्व का पोषण होता है वह स्थान भी ध्यानार्थी के ध्यान के योगय नहीं है।

जहाँ वीतराग का पक्ष मिले वह ही स्थान ध्यान के योग्य है। चाहे वह वीतराग प्रभु का मंदिर हो, चाहे वह जंगल हो, कोई सा भी स्थान हो, जहाँ वीतरागता का शिक्षण मिले, राग का शिक्षण न हो ऐसा

ध्यान ही स्थान के योग्य कहा गया है। जो स्थान निश्चरित्रों का घर हो वह घर भी ध्यानार्थी के ध्यान करने योग्य नहीं है, जहाँ चारित्रहीन पुरुषों का निवास हो वह स्थान भी ध्यान करने योग्य नहीं है क्योंकि वहाँ की चर्चा, वहाँ का वातावरण कुछ और ही तरह का है। ध्यान करना है इस अद्‌भुत ज्ञानस्वरूप आत्मा में। यह ज्ञान समा जाय, कोई विकल्प न रहे और एक ज्ञानप्रकाश के अनुभव का ही आनन्द लेते रहें ऐसा चाहिए ध्यान ध्यानार्थी को, पर ऐसा ध्यान वहाँ बनेगा जहाँ संयमशील पुरुष रहते हैं, जहाँ मंद चारित्र वाले पुरुष रहते हैं ऐसे स्थान में ध्यान की सिद्धि नहीं बनती। ध्यान की सिद्धि करना है अपने आपमें, अर्थात् मैं सबसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप हूँ ऐसी भावना में अन्तरलीन होना है। उस ध्यान की सिद्धि वहाँ नहीं होती जहाँ चारित्रहीन लोग रहते हैं और चारित्रग्राह्यता की चर्या बनती है ऐसा स्थान जहाँ क्रूर कर्म करने वालों का व्यवहार चलता हो वह स्थान भी ध्यान के योग्य नहीं कहा गया। जहाँ रौद्र आशय है, जहाँ हिंसा विषय आदिक प्रवर्तन जहाँ हैं ऐसे पुरुषों का जहाँ निवास है, वह स्थान भी ध्यान के योग्य नहीं कहा है। जहाँ खोटे शास्त्रों का अध्ययन चलता है, खोटे शास्त्रों के अध्ययन से ठगाई चलती है वह स्थान भी ध्यानार्थी के योग्य नहीं है। जहाँ पाप की शिक्षा दी जाय, रागद्वेष बढ़ने का शिक्षण दिया जाय वह स्थान धर्मार्थी के योग्य नहीं है। जगत में कोई भी पदार्थ इस आत्मा की प्राप्ति करने के योग्य नहीं है। सभी पदार्थ भिन्न हैं, आत्मा से पृथक हैं, अस्पष्टभूत हैं, हित का उनमें नाम नहीं है प्रत्युत हानि ही हानि है। तो ऐसा स्थान जहाँ पर खोटी बात का शिक्षण हो, परिग्रह के जुटाने की बात कही जाय, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदिक में लगाने की बात कही जाय अथवा धर्म का रूप देकर खोटे पापों में लगने की प्रेरणा दी जाय ऐसा स्थान ध्यानार्थी के योग्य नहीं है।

देखिये आत्मा का हित है मुक्ति में, और मुक्ति मिलती है तब जब पहिले यह श्रद्धा में बसा हो कि मैं स्वभावत: उन समस्त परआपदाओं से छूटा हुआ ही हूँ, अपने मुक्त स्वरूप की श्रद्धा न हो तो मुक्ति के मार्ग में लग नहीं सकता। जो मुक्ति का स्वरूप है ऐसा मैं यह हो सकता हूँ क्योंकि ऐसा ही मेरा स्वरूप है, स्वभाव है। मैं अपने ही स्वरूप में तन्मय हूँ, समस्त परपदार्थों से न्यारा हूँ ऐसी बात पहिले समझ में न आये, जब मुक्त स्वरूप अपने को विदित न हो तो मुक्ति के मार्ग में लगा नहीं जा सकता। मैं परमात्मा हूँ, योग्य हूँ ऐसा अपने को विश्वास न हो तो बनेगा क्या? तो जहाँ पापों में लगने की बात न कही जाती हो, रागद्वेष मोह से हटाने का निवास हो वह ही स्थान ध्यान के योग्य कहा गया है। जो स्थान किसी अहंकारयुक्त पुरुष के अधिकार के पोषण से पूरित हो वह स्थान भी धर्मार्थी के योग्य नहीं है। किसी की जिम्मेदारी है, किसी के कुल का प्रताप है, और किसी को उत्तम जाति मिली हे, किसी को इज्जत पोजीशन बड़ा मिला है, उन सब बातों के कारण जिसके ऐसा गर्व बढ़ गया, जिस स्थान में अपनी शक्ति का दबाव करता है लोगों को अपना बल दिखाता है, ऐसे घमंडी के वातावरण वाला स्थान ध्यानार्थी के योग्य नहीं है। जहाँ पर अनेक शील रहित पुरुषों से मिलकर कोई अपनी अचिन्त्य महिमा का प्रभाव बना रखे हो, ढोंग

किए हुए हो वह ध्यान भी ध्यानार्थी के योग्य नहीं है। ध्यानार्थी तो उस स्थान में जाना चाहेगा जहाँ किसी भी प्रकार से अपने आपको विकल्पों में लगाने का भाव नहीं बनाता। ध्यानार्थी को तो अचिन्त्य वीतरागता के वातावरण वाला स्थान चाहिए निवास के लिए। जिस स्थान में जुवा खेलने वाले, मदिरापान करने वाले अथवा खोटे कार्य करने वाले लोग रह रहे हों वह स्थान ध्यान के योग्य नहीं है। जो पुरुष स्वयं विषयकषायों से जुदे रहकर एकान्त में निवास करते हैं उनके संग में उसी स्थान में रहना ध्यानार्थी को योग्य है। जो पुरुष स्वयं रागद्वेष से मलिन हैं उनके संग में रहना योग्य नहीं है। जहाँ नास्तिक लोगों का निवास हो, जिनको आत्मा परमात्मा आदि में श्रद्धा नहीं हे जो जन्म मरण को नहीं मानते ऐसे पुरुषों के बीच निवास करना योग्य नहीं है। जैसे कोई स्वस्थ पुरुष ही है और लोग आ आकर उससे यों ही कहें कि आप बडे दुर्बल हो गये, आपका शरीर अब कुछ नहीं रहा, आप उदास हैं, आप कुछ पीले से पड़ गये हैं, लगता है कि आपके कोई रोग है, ऐसी ही बातें कोई स्वस्थ पुरुष जब कई पुरुषों के द्वारा सुनता है तो वह अपने आपको वैसा ही अनुभव कर लेता और वह वैसा ही रोगी बन जाता है, ऐसे ही नास्तिक पुरुषों के बीच में रहने वाला व्यक्ति भी अपने को अनुभव करके वैसा ही बन जाता है। तो नास्तिक पुरुषों का जहाँ निवास हो उस स्थान में ध्यानार्थी को रहना योग्य नहीं है। ध्यानार्थी को तो श्रद्धा और चारित्र बढ़ाने वाली बात ही चाहिए। श्रद्धा और चारित्र ये दो गुण ऐसे पवित्र हैं कि जिनके विकास के द्वारा समस्त संकटों का विनाश होता है। अत: ध्यानार्थी पुरुष को उत्तम स्थान में ध्यान करना चाहिए।

ध्यानार्थी पुरुष को किस स्थान से दूर रहना चाहिए? उसका यह वर्णन चल रहा है। जहाँ शिकारी लोग रहते हों, शिकारियों का आवागमन हो, शिकारियों ने जहाँ जीव वध किया हो वह स्थान ध्यान के साधक पुरुषों को योग्य नहीं है। जहाँ कारीगर मोची आदिक का स्थान हो, वे जहाँ रह गए हों, जहाँ लोहार ठठेर आदिक रहते हों वह स्थान ध्यान साधना के योग्य नहीं है क्योंकि ऐसी स्थितियों में शोरगुल और अशुद्ध वातावरण रहता है। जहाँ सेना हो, समृद्धि हो अथवा शत्रु की सेना का स्थान हो, भ्रष्ट चारित्र वाले विडरूपजन जहाँ रहते हों वह स्थान भी ध्यान करने वालों के योग्य नहीं है।

श्लोक-1289

विद्रवन्ति जना: पापा: सञ्चरन्त्यमिसारिका:।
क्षोभयन्तीङ्गिताकारैर्यत्र नार्यो पशङ्किता:।।1289।।

जहाँ पापीजन उपद्रव करते हों, जहाँ अविसारिका स्त्री विचरती हों, जहाँ स्त्री नि:शंक होकर अपने कटाक्षभाव से क्षोभ उत्पन्न करती हों ऐसा स्थान ज्ञानी मुनि के बसने योग्य नहीं है। पापी लोग, गुंडा, उद्दण्ड पुरुष जहाँ उपद्रव किया करते हों, जहाँ व्यभिचारिणी स्त्री बाजार करती हों, वह स्थान ध्यान साधक पुरुषों के योगय नहीं है, क्योंकि उन स्थानों में उपद्रव को शंका और व्यर्थ का ऊधम वादविवाद की सम्भावना रहती है और जहाँ वेश्यायें विचरती हैं वहाँ कामविकार आदिक के अशुद्ध वातावरण रहते हैं इस कारण ऐसा अयोग्य स्थान ध्यान के योग्य नहीं है। जहाँ अंगहीन भिखारी आदिक रहते हों वह भी स्थान योग्य नहीं है। और जहाँ शत्रु का आवागमन विशेष हो, जो अपनी सेवा आदिक से क्षोभ उत्पन्न करता हो वह स्थान ध्यान सिद्धि के योग्य नहीं है।

श्लोक-1290

किं च क्षोभाय मोहाय यद्विकाराय जायते।
स्थानं तदपि मोक्तव्यं ध्यानविध्वंसशङ्कितै:।।1290।।

जो मुनि ध्यानविध्वंस के भय से भयभीत हैं उनको क्षोभकारक तथा विकार करने वाला स्थान भी छोड़ देना चाहिए। जिन स्थानों में शोरगुल से या वध आदिक क्रियावों से या जुवा आदिक खेले जाते हों, जहाँ लड़ने-भिड़ने वाले पशुवों का आवागमन हो अथवा पशु पक्षियों का झुंड रहता हो वे सब क्षोभ करने स्थान हैं। इसी प्रकार जो मोह उत्पन्न करे, जहाँ अविसारिका का निवास हो, उनका आवागमन हो वह स्थान एक सम्मोह को उत्पन्न करता है। जहाँ अनेक तरह के विकारों का योग जुड़ता हो वह भी स्थान योग्य नहीं है।

श्लोक-1291

तृणकण्टकवल्मीकविषमोपलकर्द्दमै:।
भस्मोच्छिष्टास्थिरक्ताद्यैर्दूषितां सत्यजेद्भुवम्।।1291।।

ऐसी भी जगह जहाँ त्रण बहुत रहते हों, त्रण के नीचे कोई कीड़े भी रह सकते हैं उन पर आवागमन करने से उनकी हिंसा है, अथवा उन त्रणों के नीचे के स्थान में विषैले सर्प पक्षी आदिक भी रहते

हैं, वह प्रासुप स्थान नहीं है, विषैले जानवरों का स्थान है ऐसी जगह रहने से क्षोभ का अवसर न आ सके, अतएव जहाँ त्रण का स्थान हो वह ध्यान के योग्य नहीं है। जहाँ कंटक बहुत रहते हों, बैठने में भी कंटक चुभा करते हैं, चलने फिरने में भी कांटे चुभते हैं वह स्थान भी ध्यानी के योग्य नहीं है। ध्यान में आने पर फिर उपद्रव उपसर्ग आयें तो उन पर विजय करें, सहनशील बनें, पर पहिले से ही जानबूझकर ऐसे स्थान में रहना योग्य नहीं है। जहाँ बामियां रहती हैं जिनमें सर्पों का निवास होता है ऐसा स्थान भी ध्यानी के योग्य नहीं है, क्योंकि मन है उसमें शल्य और शंका रह सकती है। नि:शंकता से वहाँ ध्यान नहीं बन पाता। स्थान होना चाहिए साफ-सुथरा, कुछ ऊँचा, कुछ अच्छी कड़ी जगह का और जहाँ अधम पुरुष न रहते हों, पापी जनों का निवास न हो ऐसा विशुद्ध स्थान ध्यानी पुरुषों के ध्यान के योग्य हे, इसके विपरीत जिस स्थान में भय हो, शंका हो, मोह उत्पन्न हो, विकार हो वह स्थान ध्यान के योग्य नहीं हे। जहाँ ऊँचा-नीचा अधिक स्थान हो, ऊबड़-खाबड़ हो, कीचड़ हो, भस्म राख हो, जहाँ जूठा भोजन डाला जाय, कूड़ा करकट डाला जाय ऐसा स्थान भी ध्यानी के योग्य नहीं है, जिस स्थान में रहकर मन भी प्रसन्न न हो उसे उस स्थान में चित्त की एकाग्रता क्या बनेगी, क्षोभ ही रहेगा, अतएव ऐसा क्षोभकारक स्थान ध्यानी के योग्य नहीं कहा गया है। ऐसे ही जहाँ हाड़, खून, माँस, आदिक निन्द्य वस्तुवें हों उस दूषित स्थान को ध्यान करने वाला छोड़ दे। कषायीखाना पास बस रहा हो, जहाँ दुर्गन्ध फैल रही हो; हांड़, खून, माँस भी जगह-जगह पाये जाते हों, गिद्ध आदिक पक्षी जहाँ हड्डी-माँस आदिक चूँटने के लिए उड रहे हों वह स्थान ध्यानी के योग्य नहीं है। ध्यानसाधना करना है एक आत्मा का। आत्मविशुद्धि उस ज्ञानी के होती है जिसका उपयोग आत्मा के विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप को ग्रहण करता है और ऐसा उपयोग बनाने के लिए स्थान वह हो सकता है जहाँ वीतरागता का कोई आदर्श हो अथवा वीतरागता में बाधा देने वाले बाह्य पदार्थ न हों। ऐसा स्थान जिसमें मोह विकार, ग्लानि, घृणा, शंका, भय उत्पन्न हों वह स्थान ध्यानी साधु पुरुषों के योग्य नहीं है।

श्लोक-1292

काककौशिकमार्जारखरगोमायुमण्डलै:।
अवधुष्टं हि विघ्नाय ध्यातुकामस्य योगिन:।।1292।।

जिस स्थान में कौवा, उल्लू आदिक रहते हों, जिनकी आवाज, जिनका स्वरूप विडरूप है वह स्थान भी ध्यानसाधना के योग्य नहीं है। भले ही किसी योग्य स्थान पर ये पक्षी आ जायें तो इससे कहीं वह छोड़ देने की बात नहीं है, पर जिन पेड़ों पर, जिन खंडहरों में कौवा, उल्लू आदिक बसते हों, वह स्थान

उनके शब्दों के आवागमन से क्षुब्ध रहता है वह स्थान ध्यान के योग्य नहीं है, और बिलाव, गधे, कुत्ते, स्याल आदिक जहाँ बोला करते हैं वह स्थान भी ध्यानी के योग्य नहीं है। प्रथम तो ये सब जानवर हिंसक हैं, इनका आवागमन सुनकर इनकी हिंसा पर ध्यान पहुँच जाता है और फिर इनकी आवाज चूँकि हिंसक जानवर हैं सो उस आवाज को सुनते ही बुरी मालूम होती है और फिर शब्दों में क्षोभ है अतएव जहाँ कुत्ता, बिल्ली, स्याल आदिक हों, वे जहाँ बोला करते हों वह स्थान ध्यानसिद्धि का कारण नहीं बन पाता। जो योगी मुनि ध्यान करने की इच्छा करते हों उन्हें चाहिए कि इन हिंसक पशुपक्षियों और जो खोटे शब्द बोलने वाले हैं उनके रहने के स्थान को छोड़ दें।

श्लोक-1293

ध्यानध्वंसनिमित्तानि तथान्यान्यपि भूतले।
न हि स्वप्नेऽपि सेव्यानि स्थानानि मुनिसत्तमैः।।1293।।

जो-जो पूर्वोक्त स्थान कहे उसी प्रकार अन्य स्थान भी जो ध्यान के विघ्नकारक हों वे सभी स्थान ध्यानसाधक मुनिराज को छोड़ देने चाहिए। जिस समय आत्मा के स्वरूप का ध्यान बनता है तो चूँकि समस्त विकल्प उसके टूट जाते हैं उस निर्विकल्प वातावरण में जो आनन्द उत्पन्न होता है वह आनन्द तीन लोक के वैभव को भोगने पर भी नहीं हो सकता। उस ही आनन्द में यह सामर्थ्य है कि भव-भव के बांधे हुए कर्म भी नष्ट हो जाया करते हैं। ऐसे उत्कृष्ट सारभूत आत्मा की सिद्धि करने वाले पुरुषों का कितना त्यागभाव होना चाहिए, कितनी उदारता होनी चाहिए उसका अंदाज कर लीजिए कि जब लौकिक असारभूत वैभव के लिए यह मनुष्य सर्वस्व बलि करना चाहता है तो फिर जो लोकोत्तम है जिससे संसार के सर्व संकट दूर हो जाते हैं ऐसा ध्यान करने के लिए सब कुछ त्याग देना चाहिए। उसमें योग्य स्थान भी आ गए। धर्मध्यानी पुरुष को ऐसे-ऐसे सब स्थान जो मोह बढ़ायें क्षोभ करें वे सब त्याग देने चाहिए। जिसमें जिसके लिए लगन होती है वह उसकी साधना के लिए सर्वस्व समर्पण करने को तैयार रहा करता है। जब तक आत्मकल्याण की धुन नहीं बनती तब तक आत्म-उद्धार के लिए बाह्य वैभवों का परित्याग नहीं कर सकते, आराम और विश्राम को छोड़ नहीं सकते। तो ये विशुद्ध ध्यान के इच्छुक योगी संत ऐसे दूषित स्थानों का परित्याग कर देते हैं। ध्यानसाधना चाहिए ना तो सबसे पहिले मन प्रसन्न हो तब तो मन की एकान्तता बने। मन प्रसन्न होने का साधन है ज्ञानतत्त्व, वैराग्य। जिसका चित्त वैराग्य में वासित है, तत्त्वज्ञान में अनुरक्त है वह पुरुष अपने मन को प्रसन्न रख सकता है और व्यवहार में संयम की आवश्यकता है, ऐसे विशुद्ध वातावरण की जहाँ मन

प्रसन्न रह सकता है, फिर मन की एकान्तता बने, आत्मा का ध्यान करे ऐसे स्थानों में रहकर ध्यान की सिद्धि होती है। क्षोभकारी स्थानों में ध्यान की सिद्धि नहीं है, इस प्रकार यह प्रकरण समाप्त हुआ।